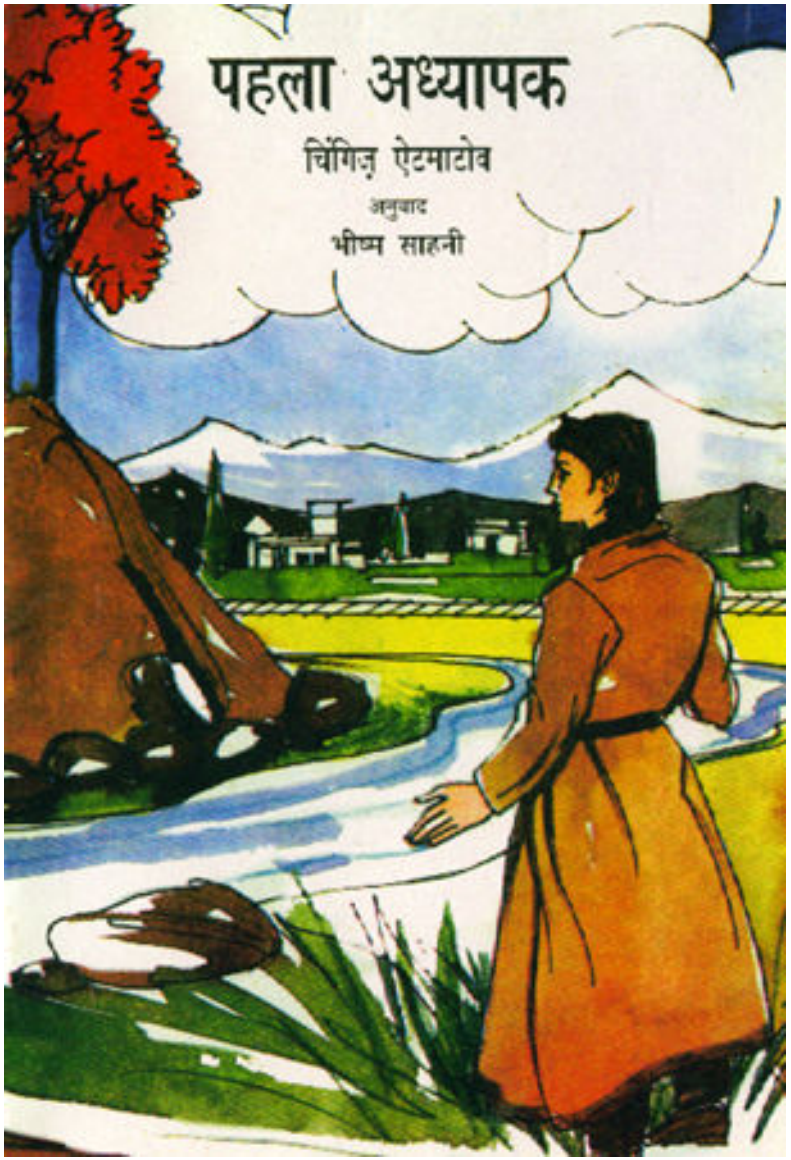
पहला अध्यापक
चिंगिज़ ऐटमाटोव
अनुवाद
भीष्म साहनी

पहला अध्यापक

चिंगिज़ ऐटमाटोव

अनुवाद

भीष्म साहनी

चित्रांकन

सैबाल चटर्जी

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

मैं खिड़की खोल देता हूं। झरने के स्वच्छ जल-प्रवाह की भांति हवा कमरे में आने लगती है। धीरे-धीरे छनते हुए नीले धुंधलके में मैं अपने उस चित्र के खाकों को बड़े ध्यान से देखने लगता हूं, जिसे मैंने शुरू कर रखा है। ये खाके बहुत-से हैं, क्योंकि मैं कितनी ही बार इसको नये सिरे से शुरू कर चुका हूं। परंतु पूर्ण चित्र के बारे में अंतिम निर्णय कर पाने का वक्त अभी तक नहीं आया। मुझे अभी तक वह प्रमुख, चिरवांछित तत्व नहीं मिला जो पलक मारते उत्तरोत्तर बढ़ती हुई स्पष्टता और अकथनीय सूक्ष्मता के साथ, अनिवार्य रूप से, आत्मा की गहराइयों में वैसे ही उतर जाता है, जैसे ग्रीष्म-ऋतु का यह प्रभात। पौ फटने से पहले की निस्तब्धता में मैं चहल-कदमी करता और अपने चित्र के बारे में सोचता रहता हूं। हर बार ऐसा ही होता है। और हर बार मुझे इस बात का यकीन हो जाता है कि मेरा चित्र अभी तक मेरी कल्पना में ही बसा हुआ है।

मुझे यह पसंद नहीं कि काम पूरा होने से पहले ही उसकी चर्चा की जाए, अपने घनिष्ठ मित्रों से उसका जिक्र किया जाए; इसलिए नहीं कि अपने काम के बारे में मेरा दिल डरता है, बल्कि इसलिए कि जो बच्चा अभी पालने में ही है, उसके बारे में यह कहना कठिन होता है कि वह बड़ा होकर कैसा निकलेगा। इसी भांति उस रचना के बारे में भी निर्णय करना बड़ा कठिन है जो अभी तक अधूरी है। परंतु इस बार मैंने अपना नियम बदल लिया है। मैं खुल्लम-खुल्ला उस चित्र के बारे में, जो अभी तक बना नहीं, अपने दिल की बात कह डालना चाहता हूं।

यह सनक नहीं है। मैं इसके अतिरिक्त कुछ कर भी नहीं सकता, क्योंकि मैं महसूस करता हूं कि यह काम मुझ अकेले के बस का नहीं है। मुझे लगता है कि यह कहानी, जो मेरे अंतर्तम को मथ रही है, जो मुझे तूलिका उठाने को मजबूर कर रही है, इतनी विशाल और इतनी विलक्षण है कि मैं अकेला इसे संभाल नहीं सकता। मैं डरता हूं कि यह जाम कहीं छलक न जाए। मैं चाहता हूं कि लोग मेरी सहायता करें, अपने परामर्श दें, मैं चाहता हूं कि बेशक अपनी कल्पना में ही वे फलक के पास मेरे साथ खड़े रहें, कि वे भी मेरी भांति मानसिक

हलचल अनुभव करें।

अपने हृदयों को उद्वेलित होने दीजिए, मेरे निकट आइए, मैं यह कहानी कहे बिना रह ही नहीं सकता...

हमारा कुरकुरेव गांव पहाड़ों के दामन में बसा है, जहां अनेक दर्रों में से शोर मचाती पहाड़ी नदियां बहती हैं। गांव के नीचे दूर-दूर तक एक सुनहरा मैदान फैला है—विशाल कज़ाख स्तेपी—जिसकी सीमाओं को काले पहाड़ों की श्रेणियां और क्षितिज के साथ-साथ पश्चिम की ओर जानेवाली रेलवे लाइन की काली रेखा आंकती है।

गांव के ऊपर पोपलार के दो विशालकाय पेड़ एक टीले पर खड़े हैं। जिस दिन से मैंने होश संभाला है, ये पेड़ मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हैं। किसी भी दिशा से हमारे गांव की ओर जाने पर ये दोनों विशालकाय पेड़ प्रकाश-स्तंभों की भांति नजर आते हैं। या तो इस कारण कि बचपन के दिनों में मन पर अंकित होनेवाले प्रभाव मनुष्य को विशेष रूप से प्रिय होते हैं, या फिर शायद इसलिए कि मैं चित्रकार हूं—मेरे लिए इसकी व्याख्या करना कठिन है—हर बार रेलगाड़ी से उतरने के बाद स्तेपी को लांघकर गांव की ओर जाते हुए मेरी आंखें बरबस अपने इन प्यारे पेड़ों को खोजने लगती हैं।

वे चाहे कितने ही ऊंचे क्यों न हों, फिर भी शायद इतनी दूरी से उन्हें फौरन देख पाना संभव नहीं है, मगर मैं सदा उनकी उपस्थिति को महसूस कर लेता हूं, मुझे वे सदा नजर आ जाते हैं।

कितनी ही बार बहुत दूर के इलाकों से कुरकुरेव को लौटते हुए मैं बड़ी आतुरता से यह सोचता हूं कि क्या मैं शीघ्र ही उन जुड़वां पोपलार वृक्षों को देख पाऊंगा ? काश मैं जल्दी से जल्दी गांव में पहुंच जाऊं, काश मैं जल्दी से जल्दी उस टीले पर जा पहुंचूं और पेड़ों के तनों के पास खड़े रहकर पोपलार वृक्षों के पत्तों के अनंत संगीत को सुन पाऊं।

गांव में तरह-तरह के अनेक पेड़ हैं, परंतु इन पोपलार वृक्षों की अपनी विशेषता है—इनकी अपनी विशेष भाषा है और शायद इनकी विशिष्ट संगीतमयी आत्मा भी है। रात हो या दिन, जब भी यहां आओ, निरंतर हिलते हुए शिखरों, झूमती हुई टहनियों और पत्तों वाले ये पोपलार के पेड़ भिन्न-भिन्न स्वरों में गुंजार करते रहते हैं, इनका संगीत कभी थमता नहीं।

बाद में, बहुत-से साल बीत जाने पर मैं इन पोपलार वृक्षों का रहस्य समझ पाया। ऊंचे टीले पर खड़े और चारों ओर की हवाओं से प्रभावित होने वाले इन पोपलार वृक्षों को हवा के हल्के-हल्के झोंके भी उद्वेलित करते रहते हैं, इनका

पत्ता-पत्ता कांप उठता है।

इस सीधी-सीधी हकीकत के जाहिर हो जाने से मैं निराश नहीं हुआ हूं, हृदय पर अंकित बचपन की वह अनुभूति आज तक ज्यों की त्यों बनी हुई है। ये दोनों पोपलार वृक्ष मेरे लिए आज भी विलक्षण हैं—मानो वे सप्राण और सजीव हों। वहां, उनके निकट, मेरा बचपन मानो हरे रंग के कांच के अद्‌भुत टुकड़े की भांति पड़ा रह गया है...

गर्मी की छुट्टियां शुरू होने से पहले, पढ़ाई के आखिरी दिन, हम लड़के वहां पक्षियों के घोंसले तोड़ने आ जाते थे। शोर-गुल मचाते, सीटियां बजाते, हर बार जब हम टीले पर भागते हुए चढ़ते, तो विशालकाय, झूलते हुए पोपलार अपने शीतल साए और प्यार भरी सरसराहट के साथ हमारा स्वागत करते। और हम, मनचले लड़के, नंगे पांव, एक-दूसरे का सहारा लेते हुए टहनियों और डालों को पकड़-पकड़कर हाथों और पैरों के बल पेड़ों पर चढ़ जाते। पक्षियों के राज्य में हलचल मच जाती। चीं-चीं करते हुए पक्षियों के झुंड हमारे ऊपर से उड़ जाते, लेकिन हम इस सब की ओर कोई ध्यान न देते। उल्टे हम ऊपर ही ऊपर चढ़ते जाते, यह होड़ करते कि कौन अधिक साहसी, कौन अधिक फुर्तीला है। और सहसा उस गगनचुंबी शिखर से, पक्षियों की उड़ान की ऊंचाई से हमारी आंखों के सामने मानों जादू की छड़ी से, प्रसार और प्रकाश का अद्‌भुत संसार खुल जाता।

पृथ्वी की महिमा के सामने हम मंत्रमुग्ध से रह जाते, अपनी-अपनी टहनियों-शाखाओं पर बैठे हम दम साध लेते, पक्षियों और उनके घोंसलों को भूल जाते। यहां से हमें सामूहिक फार्म का अस्तबल, जिसे हम संसार की सबसे बड़ी इमारत समझते थे, साधारण-सी कोठरी जैसा नजर आता। गांव के पीछे अछूती स्तेपी का अनंत प्रसार फैलता हुआ धुंधलके में खो जाता था। हम उसकी नीलिमा से ढकी दूरियों को जहां तक नजर जाती, आंखें फाड़-फाड़कर देखते और हमें धरती के अनेकानेक ऐसे क्षेत्र नजर आते, जिनके अस्तित्व की हम पहले कल्पना तक नहीं करते थे। ऐसी नदियां नजर आतीं जिनके बारे में हम पहले कुछ भी नहीं जानते थे। क्षितिज पर चांदी के बारीक धागों की भांति नदियां झिलमिलातीं। पोपलार वृक्षों पर बैठे हुए हम सोचा करते—क्या यह दुनिया का छोर है या इसके आगे भी ऐसा ही आकाश है, ऐसे ही बादल हैं, स्तेपी और नदियां हैं ? पोपलार वृक्षों पर बैठे हम ऊंचाइयों पर बहनेवाली हवाओं की अलौकिक ध्वनियां सुनते और जवाब में पेड़ों के पत्ते बड़े मैत्रीपूर्ण ढंग से फुसफुसाते। हमें लगता कि जैसे वे उन लुभावने, रहस्यपूर्ण प्रदेशों की चर्चा कर रहे हैं जो नीलिमा से ढकी दूरियों के पीछे छिपे हुए हैं।

मैं पोपलार वृक्षों की सांय-सांय सुनता रहता और मेरा दिल भय और आह्लाद से धक-धक करने लगता। पोपलारों की इस अंतहीन सरसराहट में मैं उन अजनबी दूरियों का स्वप्न देखा करता। परंतु एक बात के बारे में मैंने उन दिनों कभी नहीं सोचा था। वह यह कि ये पेड़ किसने यहां लगाए थे। उसके मन में क्या था, उसके होंठों पर कौन से शब्द थे, जब उसने पेड़ों को रोपा था, किन आशाओं को दिल में संजोए हुए उसने यहां, पहाड़ी पर, इन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया था ?

हमारे गांव में इस टीले को, जहां ये पोपलार खड़े हैं, किसी कारण "दूइशेन का स्कूल" कहा जाता था। मुझे याद है कि अगर कभी किसी का घोड़ा खो जाता और वह उसे खोजता हुआ किसी राहगीर से पूछता—"सुनो तो, तुमने मेरा घोड़ा तो कहीं नहीं देखा ?" तो उसे अक्सर यही जवाब मिलता, "वहां, दूइशेन के स्कूल के पास, रात को घोड़े चर रहे थे, वहां जाओ, मुमकिन है तुम्हें वहां अपना घोड़ा मिल जाए।" बड़ों की नकल करते हुए हम छोकरे भी सोचे-समझे बिना यही दोहराया करते—"आओ, दोस्तों, दूइशेन के स्कूल को चलें, पोपलार के पेड़ों पर चढ़कर चिड़ियों को उड़ाएं।"

सुनने में आया था कि किसी जमाने में इस टीले पर एक स्कूल हुआ करता था। हमने उसका नामोनिशान तक नहीं देखा। बचपन में मैंने बड़ी कोशिश की कि कहीं उसके खंडहर ही देख पाऊं, इसके लिए मैं बहुत घूमता रहा, पर मुझे कुछ भी नजर नहीं आया। फिर मुझे यह बात बड़ी अजीब-सी लगती थी कि एक हरियालीहीन टीले को "दूइशेन का स्कूल" का नाम दिया जाए। बाद में मैंने बड़े-बूढ़ों से पूछा कि यह दूइशेन कौन था। एक बुजुर्ग ने लापरवाही से हाथ झटककर कहा, "दूइशेन कौन था ? वही जो अभी भी यहां रहता है, लंगड़ी भेड़ वालों की औलाद ! बहुत मुद्दत पहले वह युवा कम्युनिस्ट लीग का सदस्य हुआ करता था। टीले पर तब एक टूटा-फूटा बाड़ा था। दूइशेन ने वहां एक स्कूल खोला था, बच्चों को पढ़ाया करता था। वह भी क्या कोई स्कूल था ? केवल नाम को ही स्कूल था। वे दिन भी खूब थे ! तब तो जो कोई भी घोड़े पर सवार हो जाता, रकाब में पांव रख लेता, वही संचालक बन बैठता। दूइशेन भी ऐसा ही आदमी था। जो मन में आता, वही करता। अब तो उस बाड़े की एक ईंट भी बाकी नहीं रही ! हां, उसका नाम जरूर बचा रहा है..."

दूइशेन को मैं बहुत कम जानता था। मुझे याद है, वह अधेड़ उम्र का, ऊंचा-लंबा, बेडौल-सा आदमी था, उकाब जैसी लटकती भौंहों वाला। उसका घर

नदी के उस पार, दूसरे ब्रिगेड की सड़क पर था। जिन दिनों मैं गांव में रहा करता था, वह सामूहिक फार्म में मीर-आब का काम करता था। वह बहुत कम नजर आता, सारे वक्त खेतों में खोया रहता था। कभी-कभी घोड़े पर सवारी करते हुए वह हमारी गली में से गुजरता, बड़ी-सी कुदाल उसकी जीन से बंधी रहती थी। उसका घोड़ा भी अपने मालिक ही की तरह अड़ियल और पतली टांगों वाला था। वक्त बीता, दूइशेन बूढ़ा हो गया और कहते हैं कि वह डाकिए का काम करने लगा। लेकिन यह तो मैंने प्रसंगवश कहा है। बात दरअसल दूसरी है। उन दिनों की मेरी समझ के मुताबिक कोमसोमोल-सदस्य काम में बड़ा-जोशीला, जबान का धनी और गांव का सबसे सरगर्म आदमी होता था जो सभाओं में भाषण भी दे सकता था और अखबार में कामचोरों और लुटेरों के बारे में लेख भी लिख सकता था। मैं इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यह दढ़ियल, चुप्पा-सा आदमी कभी कोमसोमोल-सदस्य रहा होगा और सबसे ज्यादा हैरानी की बात तो यह थी कि बच्चों को पढ़ाया करता होगा, जबकि वह खुद भी बहुत कम पढ़ा-लिखा था। यह कैसे हो सकता था ? मेरे दिमाग में यह बात नहीं बैठती थी। साफ-साफ कहूं तो मैंने समझा कि यह भी उन मनगढ़ंत कहानियों में से एक होगी जो हमारे गांव में बहुत प्रचलित हैं। लेकिन जो बात निकली, वह किस्से-कहानी जैसी नहीं थी...

पिछले साल की पतझड़ में मुझे गांव से एक तार मिला। मेरे हमवतनों ने मुझे नए स्कूल के उद्घाटन-समारोह में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया था। यह स्कूल सामूहिक फार्म ने अपने साधनों से बनाया था। मैंने फौरन जाने का फैसला कर लिया। यह मुमकिन नहीं था कि ऐसे आह्लादपूर्ण अवसर पर मैं घर बैठा रहूं। इतना ही नहीं, मैंने कुछेक दिन पहले वहां जाने का निश्चय किया। मैंने सोचा, मैं वहां घूमूं-फिरूंगा, कुछ देखूंगा, नए रेखाचित्र तैयार करूंगा। पता चला कि आमंत्रित मेहमानों में अकादमीशियन सुलैमानोव्ना भी हैं और उनकी प्रतीक्षा की जा रही है। मुझे बताया गया कि वह दो-एक दिन वहां ठहरेंगी और वहीं से सीधे मास्को चली जाएंगी।

मैं जानता था कि इस समय इतनी विख्यात यह महिला बचपन में हमारे ही गांव से शहर गई थीं। चूंकि मैं खुद भी शहर में रहता था, इसलिए मेरी उनसे जान-पहचान हो गई थी। वह बड़ी उम्र की थीं, शरीर गदरा गया था, खूब कसकर गुंथे हुए बालों में सफेद बालों की झलक मिलती थी। हमारे ही गांव की यह प्रतिष्ठित महिला विश्वविद्यालय में एक विभाग की संचालिका थीं, दर्शनशास्त्र पढ़ाती थीं, अकादमी में काम करती थीं और अक्सर विदेशों में जाती रहती थीं। वह बहुत ही व्यस्त रहती थीं, इसलिए मुझे उन्हें निकट से जानने का अवसर नहीं मिला था। फिर भी जब कभी हम मिलते, वह जरूर हमारे गांव के जीवन के बारे में पूछतीं और मेरी रचनाओं के बारे में भी दो-एक शब्द अवश्य कहतीं। एक बार मैंने उनसे कहा—

"आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, यदि आप कभी गांव का चक्कर लगा आएं, तो बहुत अच्छा हो। अपने हमवतनों से मिलिए। वहां सभी लोग आपको जानते हैं, आप पर उन्हें बड़ा नाज है। पर वे केवल सुनी-सुनाई बातों के आधार पर ही आपको जानते हैं। वे कहते हैं कि लगता है हमारी प्रसिद्ध वैज्ञानिक महिला अपने गांव का रास्ता भूल गई हैं, हमसे दूर रहना चाहती हैं।"

"नेक ख्याल है," आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने उदासी से मुस्कुराते हुए जवाब दिया। "मैं खुद बड़ी मुद्दत से कुरकुरेव जाने के स्वप्न देख रही हूं, एक युग बीत गया वहां गए हुए। यह सच है कि अब मेरे अपने सगे-संबंधी गांव में नहीं हैं। पर इस बात का कोई महत्व नहीं। मैं जरूर जाऊंगी, मुझे जरूर वहां जाना है, अपनी जन्मभूमि को देखने के लिए मेरा भी दिल तड़पता है।"

...समारोह के दिन अकादमीशियन सुलैमानोव्ना देर से गांव पहुंचीं। स्कूल में जलसा शुरू होने ही वाला था। सामूहिक फार्म के किसानों को खिड़की में से उनकी मोटर नजर आ गई और वे सबके सब सड़क पर आकर जमा हो गए। परिचित और अपरिचित, बूढ़े और बच्चे सभी उनसे हाथ मिलाने के लिए उत्सुक थे। शायद आल्तीनाई सुलैमानोव्ना को ऐसे स्वागत की आशा नहीं थी और मुझे लगा कि वह कुछ घबरा रही थीं। छाती पर दोनों हाथ रखे हुए उन्होंने झुक-झुककर लोगों का अभिवादन किया और बड़ी मुश्किल से अध्यक्ष-मंडल के मंच तक पहुंच पाईं।

जीवन में एक बार नहीं, अनेकों बार ऐसी घड़ियां आई होंगी, जब उन्होंने छोटे-बड़े जलसों, सम्मेलनों और कांफ्रेंसों में भाग लिया होगा और उनका आदर-सत्कार किया गया होगा। परंतु यहां, साधारण ग्रामीण स्कूल में, हमवतनों की हार्दिकता के कारण वह बहुत ही भावोद्वेलित और उत्तेजित हुईं और अपने आंसुओं को छिपाने की कोशिश करती रहीं जो उनकी आंखों में बरबस उमड़ रहे थे।

सभा की समाप्ति पर पायनियरों ने अपनी प्रिय अतिथि के गले में लाल पायनियर टाई बांधी, उन्हें फूल भेंट किए और उनके नाम से नए स्कूल की सम्मान-पुस्तक खोली। इसके बाद स्कूल की शौकिया कला-मंडली ने कंसर्ट कार्यक्रम प्रस्तुत किया जो बड़ा दिलचस्प और सजीव रहा। इसके पश्चात स्कूल

के डायरेक्टर ने हम सबको—अतिथियों, अध्यापकों और सामूहिक फार्म के उत्साही कार्यकर्ताओं को अपने यहां आमंत्रित किया।

वहां और भी ज्यादा जोश के साथ आल्तीनाई सुलैमानोव्ना का आदर-सत्कार किया गया। उन्हें कालीनों से सजाए गए सबसे सम्मानपूर्ण स्थान पर बिठाया गया। प्रत्येक व्यक्ति उनके प्रति अपना आदरभाव व्यक्त करना चाहता था। जैसा कि ऐसे अवसरों पर अक्सर होता है, शोर बहुत था, लोग बड़े जोश-खरोश के साथ बातें कर रहे थे, सेहत के नाम पर जाम पिए जा रहे थे। उसी समय गांव का एक लड़का आया और उसने तारों का एक पुलिंदा मेजबान को पकड़ा दिया। लोग तार पढ़ने लगे—स्कूल के भूतपूर्व विद्यार्थियों ने स्कूल के उद्घाटन पर अपने हमवतनों को बधाई के संदेश भेजे थे।

डायरेक्टर ने पूछा—

"सुनो, क्या ये तार बूढ़ा दूइशेन लाया है ?"

"जी हां," लड़के ने जवाब दिया। "उसका कहना है कि वह रास्ते भर घोड़े को चाबुक मारकर सरपट दौड़ाता रहा है, क्योंकि वह चाहता था कि सभा के समय ही पहुंच जाए और तार लोगों के सामने पढ़कर सुनाए जा सकें। पर आकसाकाल को थोड़ी देर हो गई, बहुत दुखी है।"

"मगर वह बाहर क्यों खड़ा है, उसे अंदर बुला लाओ !"

लड़का दूइशेन को बुलाने बाहर चला गया। मेरे पास बैठी आल्तीनाई सुलैमानोव्ना किसी कारण चौंकीं और कुछ अजीब से ढंग से मानो सहसा उन्हें कुछ याद आ गया हो, मुझसे पूछने लगीं—

"यह दूइशेन कौन है, जिनके बारे में बात हो रही है ?"

"सामूहिक फार्म का डाकिया है, आल्तीनाई सुलैमानोव्ना। क्या आप बूढ़े दूइशेन को जानती हैं ?"

उन्होंने अनिश्चित ढंग से सिर हिलाया, कालीन पर से उठने की कोशिश की, लेकिन ऐन इसी वक्त खिड़की के पास से घोड़े की टाप सुनाई दी और लड़के ने लौटकर मेजबान से कहा—

"मैंने भीतर चलने को कहा, लेकिन वह नहीं रुका—उसे अभी और चिट्ठियां बांटनी हैं।"

"बांटने दो, उसे रोकने की क्या जरूरत है। वह बाद में अपने बुढ़ऊ साथियों के साथ आ बैठेगा," किसी ने बड़बड़ाकर कहा।

"अरे, आप दूइशेन को नहीं जानते। बड़ा कानून-कायदे का आदमी है। अपना काम पूरा करने के बाद ही वह किसी दूसरी चीज में दिलचस्पी लेता है," दूसरा बोला।

"हां, अजीब आदमी है। जंग के बाद अस्पताल से निकलकर उक्रइना में पड़ा रहा। अभी पांच साल हुए कि यहां लौटा है। कहता है कि बुढ़ापे में अपने वतन में मरने के लिए आया हूं। सारी जिंदगी अकेला रहा और अब भी अकेला ही है..."

"फिर भी अच्छा होता कि वह अंदर आ जाता। लेकिन अगर नहीं आया, तो भी कोई बात नहीं," मेजबान ने हाथ हिलाकर कहा और गांव के एक सम्मानित व्यक्ति ने, जो कालीन पर दस्तरखान के सिरे पर बैठा था, अपना जाम उठाया—

"साथियो, मुमकिन है कि आप में से कुछ को याद हो, एक जमाना था कि हम दूइशेन के स्कूल में पढ़ा करते थे और वह खुद भी वर्णमाला के सभी अक्षर शायद ही जानता हो," कहते हुए उसने पलकें मूंदकर सिर हिलाया। उसके चेहरे पर विस्मय और व्यंग्य की झलक थी।

"ठीक है, सचमुच ऐसा ही था," जवाब में कुछेक आवाजें सुनाई दीं।

सभी लोग हंस पड़े।

"कहने को है ही क्या ! और कौन-सा ऐसा काम था, जिसमें उन दिनों दूइशेन ने टांग न अड़ाई हो। हम लोग भी तो उसे सचमुच अध्यापक समझते थे।"

जब हंसी-मजाक कुछ थमा, तो उस व्यक्ति ने, जिसने जाम उठा रखा था, अपनी बात जारी रखते हुए कहा—

"और अब लोग हमारे देखते ही देखते कहां के कहां पहुंच गए हैं। अकादमीशियन आल्तीनाई को सारा देश जानता है। लगभग हम सभी ने माध्यमिक शिक्षा प्राप्त की है और बहुत-से इससे भी ज्यादा तालीम पा चुके हैं। आज हमने अपने यहां नया माध्यमिक स्कूल खोला है। इसी एक तथ्य से पता चल जाता है कि जिंदगी कितनी बदल गई है। तो आइए, हमवतनों, कुरकुरेव के बेटे-बेटियों के नाम पर जाम पिएं। हमारी कामना है कि वे अपने जमाने के सबसे अग्रणी लोग बनें !"

सभी वाह-वाह कर उठे, सभी ने एकस्वर से उक्त शब्दों का समर्थन किया। केवल आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के चेहरे पर लाली दौड़ गई, वह विचलित-सी हो गईं, अपने में सिमट गईं और उन्होंने जाम को होंठों से केवल छू भर दिया। समारोह की खुशी और बातचीत के शोर में लोगों का उनके चेहरे की तरफ ध्यान नहीं गया।

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने कई बार घड़ी की ओर देखा। बाद में, जब मेहमान सड़क पर आ गए, तो मैंने देखा कि वह सभी लोगों से अलग सिंचाई-नहर के पास खड़ी उस टीले की ओर एकटक देख रही थीं, जहां पतझड़ में लाल हुए पत्तों वाले पोपलार हवा में झूम रहे थे। दूर, धुंधलके में खोई स्तेपी की बैंगनी सीमारेखा पर सूरज डूब रहा था। अस्तप्राय सूर्य के कांतिहीन प्रकाश में टीले पर खड़े पोपलारों के शिखर म्लान, अवसादपूर्ण, नील-लोहित आभा से ढके थे।

मैं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के पास गया।

"इस समय इन वृक्षों के पत्ते झड़ रहे हैं। इन्हें तो वसंत में देखते बनता है, जब इन पर बहार आती है," मैंने कहा।

"मैं भी यही सोच रही हूं," गहरी सांस लेकर आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने कहा और फिर धीरे-से बुदबुदाईं मानो अपने आपसे बातें कर रही हों, "हर प्राणी का अपना वसंत और अपनी पतझड़ होती है।"

उनके मुरझाए हुए चेहरे पर, जहां आंखों के इर्द-गिर्द हल्की-हल्की झुर्रियों का जाल बिछा था, अवसादपूर्ण और गहरी चिंता की छाया दौड़ गई। वह पोपलार वृक्षों की ओर देखे जा रही थीं और उनकी आंखों में स्त्री-सुलभ दुख का भाव था, सहसा मैंने अनुभव किया कि मेरे सामने अकादमीशियन सुलैमानोव्ना नहीं, बल्कि एक साधारण किर्गीज नारी खड़ी है जो अपनी खुशी और गम में सहज और निष्कपट बनी रहती है। लगता था मानो इस विदुषी महिला को अपनी जवानी के दिन याद हो आए हैं। जैसा कि हमारे गीतों में गाया जाता है—पहाड़ की ऊंची से ऊंची चोटी पर चढ़कर भी यदि बीती जवानी को पुकारो, तो वह लौटकर नहीं आती। लगता था जैसे पोपलारों की ओर देखते हुए वह कुछ कहना चाहती थीं, पर बाद में शायद उन्होंने अपना विचार बदल लिया और झट से आंखों पर चश्मा चढ़ा लिया, जिसे वह हाथ में पकड़े हुए थीं।

"मास्को जानेवाली गाड़ी शायद ग्यारह बजे यहां से गुजरती है ?"

"हां, रात के ग्यारह बजे।"

"तब तो मुझे जाने की तैयारी करनी चाहिए।"

"इतनी जल्दी क्यों ? आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, आपने तो वचन दिया था कि आप कुछेक दिन यहां रहेंगी, लोग आपको जाने नहीं देंगे।"

"नहीं, मुझे बहुत जरूरी काम है। मुझे अभी जाना होगा।"

लोगों ने उन्हें रोकने की बहुत कोशिश की, नाराज भी हुए, लेकिन आल्तीनाई सुलैमानोव्ना टस से मस न हुईं, यही रट लगाए रहीं कि उन्हें जरूरी काम है।

शाम के साए घिरने लगे। मन ही मन क्षुब्ध गांव के लोग उन्हें मोटर तक छोड़ने आए, उनसे वचन लिया कि वह दूसरी बार यहां कम से कम एक हफ्ते तक रहेंगी। मैं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना को स्टेशन तक पहुंचाने गया।

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना ने क्यों इतनी जल्दी जाने का निश्चय किया ? अपने हमवतनों को यों नाराज करना और वह भी ऐसे अवसर पर मुझे बिल्कुल नासमझी की बात लगी। रास्ते में मैंने कई बार उनसे इस बारे में पूछना चाहा, लेकिन साहस नहीं बटोर पाया। इस डर से नहीं कि ऐसा करने से बेअदबी जाहिर होगी, बल्कि इसलिए कि मैं समझता था कि वह अपने दिल की बात किसी से नहीं कहेंगी। सारा रास्ता वह चुपचाप बैठी और किसी गहरी सोच में डूबी रहीं।

स्टेशन पर मैंने आखिर पूछ ही लिया—

"आल्तीनाई सुलैमानोव्ना, न जाने क्यों आप उदास लग रही हैं, क्या हमसे कोई भूल हो गई है ?"

"यह आप क्या कह रहे हैं ! ऐसा सोचिए भी नहीं ! मैं किसलिए नाराज हो सकती हूं ? अगर नाराज हो सकती हूं, तो केवल अपने से। हां, अपने से नाराज हो सकती हूं।"

आल्तीनाई सुलैमानोव्ना चली गईं। मैं शहर लौट आया और कुछेक दिन बाद अचानक ही मुझे उनका एक पत्र मिला। उन्होंने सूचित किया था कि जैसा उन्होंने सोचा था, उससे कहीं अधिक दिनों तक उन्हें मास्को में रुकना पड़ रहा है। उन्होंने लिखा था, "मुझे बहुत-से जरूरी और फौरी काम करने हैं, फिर भी मैंने सब काम छोड़कर आपको यह पत्र लिखने का निश्चय किया है...मेरा आपसे साग्रह अनुरोध है कि जो कुछ मैं यहां लिख रही हूं, अगर आपको रुचिकर लगे, तो आप इसे लोगों तक पहुंचाने के साधन के बारे में विचार कीजिए। मैं समझती हूं कि इसकी न केवल हमारे ग्रामवासियों को, बल्कि सारी जनता को भी जरूरत है, विशेष रूप से युवक-युवतियों को। मैं बड़े सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुंची हूं। लोगों के सामने मैं अपनी आप-बीती कह रही हूं। मुझे अपना ऋण चुकाना चाहिए। जितने अधिक लोगों को इसका पता चलेगा, उतना ही कम मैं संताप की आग में जलूंगी। मुझे कठिन परिस्थिति में डालने से घबराइए नहीं। कुछ भी मत छिपाइए..."

कई दिन तक उनका यह पत्र मेरे मन पर जैसे छाया रहा। और मैं सोचता हूं, यही ज्यादा उचित होगा कि मेरी इस कहानी को स्वयं आल्तीनाई सुलैमानोव्ना के शब्दों में ही जारी रखा जाए।

यह घटना 1923 में घटी थी। हां, उसी साल...

उस जगह पर, जहां इस समय हमारा सामूहिक फार्म है, उन दिनों गरीबों की एक छोटी-सी बस्ती हुआ करती थी। उस समय मेरी उम्र चौदह बरस की थी। मैं एक अनाथ लड़की थी और अपने संबंधियों के पास, अपने पिता के चचेरे भाई के यहां रहती थी।

उस साल की पतझड़ में जब बहुत-से धनी लोग पहाड़ों पर अपने शिशिर-पड़ाव डालने के लिए जा चुके थे, हमारी बस्ती में एक अपरिचित-सा युवक आया, जिसने फौजियों का ग्रेटकोट पहन रखा था। मुझे वह ग्रेटकोट याद है, क्योंकि वह न जाने क्यों काले रंग की बनात का बना था। इस व्यक्ति का सरकारी ग्रेटकोट में प्रगट होना हमारे गांव के लिए जो शाहराह से दूर, पहाड़ों के दामन में बसा हुआ था, एक बहुत बड़ी घटना थी।

पहले तो यह कहा गया कि वह फौज में कमांडर था, इसलिए बस्ती में संचालक बनेगा। बाद में पता चला कि वह कमांडर नहीं रहा था, बल्कि उसी ताश्तानबेग का बेटा था जो बहुत साल पहले अकाल के जमाने में ही रेलवे में काम करने के लिए चला गया था और कहीं खो गया था। और उसके बेटे दूइशेन को मानो स्कूल खोलने और बच्चों को पढ़ाने के लिए गांव में भेजा गया था।

उन दिनों "स्कूल" और "पढ़ाई" जैसे शब्द बिल्कुल नए और लोगों की समझ के परे थे। कोई इन अफवाहों पर विश्वास करता, तो कोई उन्हें कपोल-कल्पना कहता और बहुत संभव है कि स्कूल की बात लोगों के दिमागों से बिल्कुल ही निकल जाती, अगर एक दिन सहसा सभा न बुलाई गई होती। मेरे चाचा बड़ी देर तक बड़बड़ाते रहे, "यह भी ऐसी-वैसी ही सभा होगी, छोटी-छोटी बात पर लोगों का वक्त बरबाद करते रहते हैं।" परंतु बाद में उन्होंने अपने घोड़े पर जीन कसा और हर स्वाभिमानी पुरुष की भांति सभा में भाग लेने के लिए रवाना हो गए। पास-पड़ोस के लड़के-लड़कियों के साथ मैं भी हो ली।

हांफते हुए हम लोग जिस समय टीले पर चढ़े, जहां अक्सर सभाएं हुआ करती थीं, तो सभा की कार्रवाई चल रही थी। पैदल और घोड़ों पर सवार लोगों की भीड़ के सामने काले ग्रेटकोट और पीले चेहरे वाला वही युवक टीले पर खड़ा भाषण दे रहा था। उसकी आवाज हम तक नहीं पहुंच रही थी। हम और निकट जाने ही वाले थे कि उसी समय फटे-पुराने कपड़े पहने एक बुढ़ऊ मानो सहसा नींद से जागते और उसकी बात काटते हुए बोला—

"सुन बेटा," उसने हकलाकर कहना शुरू किया, "पहले मुल्ला लोग बच्चों को पढ़ाया करते थे। हम तुम्हारे बाप को जानते हैं, वह भी हम जैसा ही गरीब

फटेहाल आदमी था। अब जरा मेहरबानी करके इतना तो बता, तू कहां से मुल्ला बन बैठा है ?"

दूइशेन झट से उसकी ओर मुखातिब हुआ—

"मैं मुल्ला नहीं हूं, आकसाकाल, मैं कोमसोमोल का सदस्य हूं। अब बच्चों को मुल्ला लोग नहीं, अध्यापक पढ़ाया करेंगे। मैंने फौज में पढ़ना सीखा था और इससे पहले भी मैंने थोड़ी-बहुत पढ़ाई की थी। ऐसा ही मुल्ला हूं मैं।"

"हूं, यह बात है..."

"शाबाश !" प्रशंसा की आवाजें आईं।

"युवा कम्युनिस्ट लीग ने मुझे आपके बच्चों को पढ़ाने के लिए भेजा है। इसके लिए हमें किसी मकान की जरूरत है। मैं सोचता हूं कि आपकी सहायता से जरूर स्कूल का प्रबंध इस टीले वाले वीरान अस्तबल में किया जा सकता है। इस बारे में आपकी क्या राय है, भाइयो ?"

लोग असमंजस में पड़ गए, मानो वे मन ही मन अनुमान लगा रहे हों कि इस आदमी का मकसद क्या हो सकता है। झगड़ालू सातिमकूल ने इस चुप्पी को तोड़ा। उसके अड़ियलपन के कारण लोग उसे "झगड़ालू" कहकर ही बुलाते थे। काफी देर से वह जीन पर कोहनी टिकाए बातचीत सुन रहा था और कभी-कभी दांतों के बीच से थूक रहा था।

"ठहरो, छोकरे," सातिमकूल ने आंखें सिकोड़ते हुए कहा, मानो निशाना साध रहा हो। "बताओ तो, हमें इसकी, इस स्कूल की जरूरत ही क्या है ?"

"जरूरत ही क्या है ?" दूइशेन इस सवाल से चकराया।

"ठीक ही तो है !" भीड़ में से किसी ने कहा और एकाएक हलचल-सी मच गई, लोग जोर-जोर से बोलने लगे।

"हम किसान हैं, मेहनत करके जिंदगी बसर करते हैं, हमारी कुदाल हमें रोटी देती है। हमारे बच्चे भी इसी तरह जिंदगी बसर करेंगे। उन्हें पढ़ने-लिखने की कोई जरूरत नहीं है। पढ़ाई की जरूरत होती है अफसरों-अधिकारियों को, हम तो सीधे-सादे लोग हैं। हमें उल्टे-सीधे फेरे में नहीं डालो।" शोर कुछ कम हुआ।

हक्का-बक्का दूइशेन लोगों के चेहरों को एकटक देख रहा था, बात को समझ नहीं पा रहा था—"क्या सचमुच आप लोग बच्चों की तालीम के खिलाफ हैं ?"

"अगर खिलाफ भी हैं, तो तुम क्या हमारे साथ जबरदस्ती करोगे ? वह जमाना लद गया। अब हम आजाद हैं, जैसा चाहेंगे, वैसा जीवन बिताएंगे !"

दूइशेन के चेहरे का रंग उड़ गया। कांपती उंगलियों से ग्रेटकोट के अंकुड़े तोड़कर उसने फौजी कमीज की जेब में से चौहरी तह वाला एक कागज निकाला, जल्दी से उसे खोला और ऊंचा हिलाते हुए बोला—

"मतलब यह कि आप लोग इस फरमान के खिलाफ हैं, जिसमें बच्चों की तालीम के बारे में लिखा गया है, जिस पर सोवियत सत्ता की मुहर लगी है ? उस सोवियत सत्ता की, जिसने आपको जमीन दी है, पानी दिया है, आजादी दी है ? कौन सोवियत कानूनों का विरोध करता है ? कौन है वह ? जवाब दो !"

उसने "जवाब" शब्द इतने जोर से, इतनी गूंजती और क्रोधभरी आवाज में कहा कि इस शब्द ने गोली की आवाज की तरह पतझड़ के मौन को भंग कर दिया और गोली की आवाज की तरह ही चट्टानों में इसकी हल्की-सी प्रतिध्वनि हुई। किसी के मुंह से एक शब्द भी नहीं निकला। लोग चुपचाप सिर झुकाए खड़े रहे।

"हम गरीब किसान हैं," दूइशेन अब धीमी आवाज में कहता गया, "हमें हमेशा रौंदा गया है, हमेशा हमारा अपमान किया गया है। अब सोवियत सत्ता चाहती है कि हम आंखें खोलें, पढ़ें-लिखें। और इसके लिए बच्चों को पढ़ाना चाहिए..."

जवाब के इंतजार में दूइशेन चुप हो गया। तब वही फटे-पुराने कोट वाला आदमी, जिसने यह सवाल किया था कि वह कब से मुल्ला बन बैठा है, सुलह की आवाज में बुदबुदाया—

"ठीक है, अगर तुम यही चाहते हो, तो पढ़ाओ हमारी बला से...हम कानून के खिलाफ नहीं हैं।"

"पर मैं आपसे मदद की दरख्वास्त करता हूं। हमें टीले पर जमींदार के इस अस्तबल की मरम्मत करने की जरूरत है। नदी पर पुल बनाने की जरूरत है, स्कूल के लिए ईंधन की जरूरत है..."

"ठहर, ठहर जीगित, बहुत तेजी न दिखा !" अड़ियल सातिमकूल दांतों के बीच से थूककर और फिर से एक आंख सिकोड़कर, मानो निशाना साध रहा हो, कहने लगा, "तू जो सारे गांव को चिल्ला-चिल्लाकर सुना रहा है, स्कूल खोलूंगा, स्कूल खोलूंगा ! तेरी अपनी हैसियत क्या है—फर-कोट तेरे तन पर नहीं, घोड़ा तेरे पास नहीं, चप्पा भर अपनी जमीन नहीं, जिस पर हल चला सके, आंगन में एक भी ढोर नहीं—तो प्यारे, बता तो सही गुजर कैसे करेगा ? क्या घोड़े चुराने का धंधा करेगा ? लेकिन हमारे पास तो घोड़े भी नहीं हैं जिन्हें तू चुरा सके। जिनके पास घोड़े हैं, वे पहाड़ों में हैं।"

दूइशेन ने कोई तीखा-सा जवाब देना चाहा, मगर संयम से काम लिया और

धीरे-से बोला—

"जैसे बन पड़ेगा, रहूंगा। तनख्वाह पाऊंगा।"

"अगर यह मामला है, तो पहले से कहना चाहिए था !" और सातिमकूल विजेता की भांति जीन पर सीधा तनकर बैठ गया। "अब सारी बात साफ हो गई। अपना सारा काम तू खुद कर और अपनी तनख्वाह पर बच्चों को पढ़ा, खजाने में रुपए की कुछ कमी नहीं है। हमें हमारे हाल पर छोड़ दे। भगवान की कृपा से हमारी अपनी चिंताएं कुछ कम नहीं हैं...

यह कहकर सातिमकूल ने अपना घोड़ा घुमाया और घर की ओर रवाना हो गया। अन्य लोग भी जाने लगे। हाथ में अपना कागज लिए दूइशेन ज्यों का त्यों खड़ा रह गया। वह बेचारा नहीं जानता था कि कहां जाए...

मुझे उस पर बड़ा तरस आया। मैं एकटक उसकी ओर देखे जा रही थी। मेरे चाचा ने पास से गुजरते हुए मुझे पुकारा—

"अरी, झबरैलो, मुंह बाए यहां खड़ी क्या देख रही है, चल, घर भाग !" मैं लपककर अपनी सहेलियों की ओर दौड़ी। "देखो तो, इन्हें भी अभी से सभाओं की लत पड़ गई है !"

दूसरे दिन जब मैं और पड़ोस की कुछेक लड़कियां पानी लाने गईं, तो हमने दूइशेन को नदी पार करते देखा। उसके हाथों में फावड़ा, कुदाल, कुल्हाड़ा, और एक पुरानी-सी बालटी थी।

उस दिन के बाद हर रोज सुबह दूइशेन अकेला ही वहां दिखाई देता, काला ग्रेटकोट पहने पगडंडी पर कदम बढ़ाता हुआ वह टीले वाले उजड़े अस्तबल की ओर जाता और शाम को नीचे गांव में लौटता। अक्सर हम उसे घास या भूसे का भारी गट्ठा पीठ पर लादे जाते देखते। लोग उसे दूर से देखकर आंखों पर हाथों की ओट करते, अपनी रकाबों में थोड़ा ऊपर को उठते और हैरानी से एक दूसरे से पूछते—

"सुनो, क्या वह अध्यापक दूइशेन तो नहीं जो गट्ठा उठाए टीले पर चढ़ रहा है ?"

"हां, वही है।"

"बेचारा ! पढ़ाने का काम भी कोई हंसी-मजाक नहीं है।"

"और तुम क्या समझते हो ? देखो तो जमींदार के कमेरे जितना बोझा उठाए हुए है।"

"बातें तो बड़े विद्वानों जैसी करता है !"

"इसलिए कि उसके पास मुहर वाला कागज है—उसी में सारी ताकत है।"

एक दिन उपले बटोरने के बाद, जिन्हें हम आमतौर पर गांव के ऊपर पहाड़ी की ढाल पर से चुना करती थीं, हम स्कूल की ओर गईं—हमें यह देखने की बड़ी उत्सुकता थी कि अध्यापक वहां क्या कर रहा है। मिट्टी का बना यह पुराना बाड़ा कभी एक अमीर जमींदार का अस्तबल हुआ करता था। जाड़े के मौसम में यहां घोड़ियों को रखा जाता था जो उस बुरे मौसम में बच्चे जनती थीं। सोवियत सत्ता कायम होने पर अमीर जमींदार कहीं भाग गया और उसका अस्तबल उजड़ा-सा पड़ा रह गया। वहां कोई भी आता-जाता नहीं था और अस्तबल के चारों ओर झाड़-झंखाड़ उग आए थे। अब उन्हें काट डाला गया था और उनका बड़ा-सा ढेर एक ओर पड़ा था। आंगन को साफ कर दिया गया था। बारिश के कारण टूटी-फूटी और दरारों वाली दीवारों पर अब मिट्टी का लेप कर दिया गया था। एक ही कब्जे पर लटकनेवाले और खस्ताहाल दरवाजे पर लकड़ी के तख्ते जड़ दिए गए थे और उसे अपनी जगह पर पक्का कर दिया गया था।

जब हमने सांस लेने के लिए उपलों से भरे बोरे नीचे रखे, तो दूइशेन बाहर निकल आया। वह सिर से पांव तक मिट्टी से लथपथ था। हमें देखते ही वह कुछ हैरान-सा हुआ, फिर चेहरे पर से पसीना पोंछते हुए हार्दिकता से मुस्कुराया।

"तुम कहां से टपक पड़ीं, लड़कियो ?"

हम बोरों के पास ही जमीन पर बैठी थीं। झेंप के कारण हम एक-दूसरे की ओर देखने लगीं। दूइशेन समझ गया कि हम बहुत ज्यादा संकोची और शर्मीली हैं। हमारा उत्साह बढ़ाने के लिए उसने आंख मिचमिचाकर कहा—

"बोरे तो तुमसे भी बड़े हैं। तुमने बहुत अच्छा किया, लड़कियो, जो इधर झांक लिया—"तुम्हें यहां पढ़ना जो है। और तुम्हारा स्कूल भी, मैं कहूंगा, अब लगभग तैयार ही समझो। मैंने अभी-अभी कोने में अंगीठी बनाई है और चिमनी भी लगा दी है। देख रही हो न ? अब सर्दियों के लिए जलावन लाना है। पर कोई फिक्र की बात नहीं ! आस-पास घास बहुत है। फर्श पर खूब भूसा बिछा लेंगे और पढ़ाई शुरू कर देंगे। कहो, पढ़ना चाहती हो न। स्कूल आया करोगी न ?"

अपनी सहेलियों में मैं ही सबसे बड़ी थी, इसलिए मैंने ही उसकी बात का जवाब देने का निश्चय किया।

"अगर चाची आने देगी, तो आया करूंगी," मैंने कहा।

"आने क्यों नहीं देगी ? जरूर आने देगी। तुम्हारा नाम क्या है ?"

"आल्तीनाई," मैंने जवाब दिया और फटे हुए फ्राक में से बाहर झांकते

अपने नंगे घुटने को हथेली से ढक लिया।

"आल्तीनाई—कितना अच्छा नाम है और तुम स्वयं भी तो बड़ी अच्छी लड़की हो न ?" यह कहते हुए उसके चेहरे पर इतनी सुंदर मुस्कान खिल उठी कि मेरा रोम-रोम पुलकित हो गया। "तो आल्तीनाई, तुम और लड़के-लड़कियों को भी स्कूल में लाना, उन्हें अपने साथ लिवा लाना। लाओगी न ?"

"हां, चाचा।"

"मुझे मास्टर जी कहकर बुलाओ ! स्कूल देखना चाहती हो ? चलो, अंदर चलो, शरमाओ नहीं।"

"नहीं, हम घर जाएंगी। हमें जाना है।" हमें झिझक महसूस होने लगी थी।

"अच्छी बात, घर जाओ, जब सभी मिलकर पढ़ने आओगी, तभी देख लेना। मैं अभी एक बार और घास लाने जाऊंगा, अभी दिन थोड़ा बाकी है।"

उसने हंसिया और रस्सी उठाई और मैदान की तरफ चल दिया। हम भी उठीं और बोरे उठाए हुए गांव की ओर चली गईं। सहसा मेरे मन में एक अप्रत्याशित-सा विचार उठा।

"ठहरो लड़कियों," मैंने अपनी सहेलियों को पुकारा, "आओ, हम ये उपले स्कूल में ही छोड़ दें, जाड़ों में अंगीठी ज्यादा गरम रहेगी।"

"तो क्या घर खाली हाथ जाएंगी ? वाह, कैसी सयानी हो !"

"हम वापस लौटकर और इकट्ठे कर लेती हैं।"

"नहीं, देर हो जाएगी, घर पर डांट पड़ेगी।"

और मेरा इंतजार किए बिना लड़कियां तेजी से घर की ओर चल दीं।

मैं आज तक यह नहीं समझ पाई कि किस कारण मैंने ऐसा करने का निश्चय किया था। इस कारण कि मेरी सहेलियों ने मेरे सुझाव पर कान नहीं दिया था और इसे मैंने अपना अपमान मानते हुए अपनी बात पर डटे रहना चाहा था, या इस कारण कि बचपन से ही मेरी इच्छाएं-अभिलाषाएं उजड्ड लोगों की डांट-डपट और मार-पीट के नीचे दबी रही थीं और इसलिए सहसा यह इच्छा पैदा हुई कि किसी तरह पहली बार मिलनेवाले उस अजनबी की मुस्कुराहट के लिए, जिससे मेरा रोम-रोम पुलकित हुआ था, अपने प्रति उसके मामूली-से विश्वास के लिए, उसके मुंह से निकले कुछेक सद्भावनापूर्ण शब्दों के लिए आभार प्रकट करूं, मैं यह कह नहीं सकती...पर मैं एक बात भलीभांति जानती हूं, मुझे इसका पक्का विश्वास है कि मेरा वास्तविक भाग्य, यातनाओं और खुशियों का मेरा जीवन उसी दिन से, उपलों के उसी बोरे से शुरू हुआ था। मैं यह इसलिए कह रही हूं कि उसी दिन जिंदगी में पहली बार, कुछ सोचे-विचारे और डरे बिना मैंने जिस काम को जरूरी समझा, उसे करने का निश्चय किया और उसे किया भी। जब मेरी सहेलियां मुझे छोड़ गईं, तो मैं भागकर दूइशेन के स्कूल की ओर गई, दरवाजे के पास बोरा खाली कर दिया और उसी वक्त उपले बटोरने के लिए पहाड़ी घाटियों और खड्डों की ओर चली गई।

मैं कुछ भी सोचे-समझे बिना न जाने कहां ऐसे भागती चल रही थी, मानो मेरे अंदर उत्साह का सागर उमड़ रहा हो, मेरा दिल बल्लियों उछल रहा था, इतना उद्वेलित था, मानो मैंने कोई बहुत बड़ा कारनामा कर दिखाया हो। और सूरज को जैसे मालूम था कि मैं क्यों इतनी खुश हूं। मैं समझती हूं कि वह जानता था कि मैं क्यों इतनी अलमस्त और निश्चिंत भागी जा रही थी। इस कारण कि मैंने कोई छोटा-सा नेक काम किया था।

सूरज पहाड़ों की ओर झुक चुका था, परंतु मुझे लगता था जैसे उसकी गति धीमी पड़ गई है, मानो वह आंख भरकर मुझे देखना चाहता है। उसने मेरे रास्ते को सजा-संवार दिया था : पतझड़ की खुरदुरी धरती मेरे पांवों के नीचे रक्तवर्ण, गुलाबी और बैंगनी रंगों में बहती-सी चली जा रही थी। सूरज की झिलमिलाती लौ में जंगली पौधों के सूखे डंठल उड़-उड़कर आ रहे थे। ढेर सारे पैबंद लगी मेरी जाकेट पर चांदी का मुलम्मा चढ़े बटन चमक रहे थे। मैं आगे ही आगे भागती जा रही थी और मन ही मन फूली नहीं समाती थी। धरती, आकाश और हवा को संबोधित करते हुए मैं कहती—"देखो मेरी ओर ! देखो मैं कितनी मानिनी हूं ! मैं पढ़ूंगी, हां, मैं स्कूल जाऊंगी और अपने साथ औरों को भी ले जाऊंगी !"

मैं नहीं जानती कि कितनी देर तक मैं इसी तरह भागती रही, पर मुझे सहसा याद आया—हाय, मुझे तो उपले बटोरने हैं। और अजीब बात थी, गर्मी भर यहां अनगिनत ढोर घूमते रहे थे, यहां कदम-कदम पर अनगिनत उपले हुआ करते थे, मगर अब उन्हें जैसे धरती निगल गई थी। या शायद मेरी आंखें उन्हें देख नहीं पा रही थीं ? मैं यहां-वहां, एक जगह से दूसरी जगह भागती हुई उपले ढूंढ-ढूंढकर बटोरने लगी, और जितनी अधिक दूर जाती थी, वे उतने ही कम मिलते थे। जब मैंने सोचा कि सूरज डूबने से पहले बोरा भर उपले तो मैं इकट्ठे नहीं कर पाऊंगी, तो मैं डर गई और उतावली करने लगी। जैसे-तैसे मैं आधा बोरा इकट्ठा कर पाई। इस बीच सूरज डूब गया। घाटियों में शाम के साए जल्दी-जल्दी फैलने लगे।

मैं पहले कभी भी इतनी देर तक अकेली बाहर नहीं रही थी। निर्जन, मूक

पहाड़ियों को रात ने अपनी काली चादर से ढंक दिया था। भय के कारण सुध-बुध खोए, मैंने बोरे को कंधे पर रखा और गांव की ओर भाग चली। मुझे बेहद डर लग रहा था और संभव है मैं रोने-चिल्लाने तक लगती, लेकिन यह अनोखा और अकथनीय विचार मुझे ऐसा करने से रोके रहा कि अगर दूइशेन मास्टर जी ने मुझे इस अटपटी अवस्था में यों रोते हुए देख लिया, तो वह क्या कहेंगे। मैंने हिम्मत नहीं हारी, एक बार भी पीछे मुड़कर नहीं देखा, मुझे ऐसा जान पड़ता था कि मास्टर जी सचमुच मेरी ओर देख रहे हैं।

हांफती हुई, पसीने और धूल से लथपथ मैं घर पहुंची, जब मैंने देहली लांघकर घर के अंदर कदम रखा, तो मैं बेदम हो रही थी। चूल्हे के पास बैठी चाची भयानक सूरत बनाए मेरी तरफ लपकी। वह बड़ी दुष्ट और उजड्ड औरत थी।

"तू कहां मर गई थी ?" वह झट से मेरे पास आई और मेरे मुंह से अभी एक शब्द भी न निकला था कि उसने बोरा मुझसे छीनकर एक ओर पटक दिया। "दिन भर में तू सिर्फ इतने ही उपले बटोर पाई है ?" जाहिर था कि मेरी सहेलियों ने आकर उसे खबर दे दी थी। "कलमुंही कहीं की ! स्कूल में तेरा क्या काम था ? तू वहीं क्यों नहीं मर गई ?" चाची ने मुझे कान से पकड़ा और सिर पर तड़ातड़ थप्पड़ मारने लगी। "मनहूस कहीं की, हमारी जान की आफत ! भेड़िए का बच्चा तो भेड़िया ही रहता है, पालतू कुत्ता नहीं बनता। लोगों के बच्चे सब कुछ घर में ला रहे हैं और यह घर से बाहर ले जा रही है। मैं तुझे स्कूल का मजा चखाऊंगी ! उसके नजदीक तो अब जाकर देख, तेरी टांगें न तोड़ दीं तो कहना, मैं तेरी जान ले लूंगी। मरते दम तक तू स्कूल के नाम से थर्राती रहेगी..."

मैं कुछ नहीं बोली, केवल इतनी कोशिश करती रही कि रोऊं-चिल्लाऊं नहीं। केवल बाद में, जब मैं चूल्हे के पास बैठी आग की देखभाल कर रही थी, अपनी भूरी बिल्ली को धीरे-धीरे सहलाती हुई रोने लगी, पर दिल ही दिल में, भीतर ही भीतर। मेरे रोने का उसे हमेशा पता चल जाता था और वह कूदकर मेरे घुटनों पर आ बैठती...मैं इसलिए नहीं रो रही थी कि चाची ने मुझे पीटा था, उसकी तो मुझे आदत पड़ चुकी थी, मैं इसलिए रो रही थी कि चाची कभी भी मुझे स्कूल नहीं जाने देगी...

इसके दो दिन बाद सुबह के वक्त गांव में जोर-जोर से कुत्ते भूंकने लगे और लोगों की आवाजें सुनाई देने लगीं। पता चला कि दूइशेन घर-घर जाकर बच्चों को स्कूल ले जाने के लिए इकट्ठा कर रहा है। उन दिनों सड़कें नहीं थीं,

मिट्टी के बेढब-से हमारे अंधेरे घर किसी क्रम के बिना जहां-तहां बिखरे हुए थे, जिसका जहां मन होता, वहां अपना घर खड़ा कर लेता। दूइशेन घर-घर जा रहा था और बच्चे शोर-गुल मचाते हुए उसके साथ-साथ चल रहे थे।

हमारा घर गांव के ठीक छोर पर था। उस वक्त मैं और मेरी चाची लकड़ी की ओखली में बाजरा कूट रही थीं और चाचा कोठरी के पास गढ़े में से गेहूं निकाल रहे थे--वह मंडी में गेहूं ले जानेवाले थे। लोहारों की तरह हम बारी-बारी से ओखली में भारी मूसल मार रही थीं, फिर भी मैं कनखियों से यह देख लेती कि मास्टर जी अभी कितनी दूर हैं। मैं डर रही थी कि कहीं वह हमारे आंगन तक आएं ही नहीं। और हालांकि मैं जानती थी कि चाची मुझे स्कूल नहीं जाने देगी, फिर भी मैं चाहती थी कि दूइशेन इधर आएं और कम से कम यह देख लें कि मैं कहां रहती हूं। मैं मन ही मन मास्टर जी की मिन्नतें कर रही थी कि वह हमारे आंगन तक आए बिना चले नहीं जाएं।

"सलाम अलैकुम, घर की मालकिन, खुदा आपकी मदद करे, वरना हम सब आपकी मदद करेंगे ! देखिए तो, हम कितने हैं !," दूइशेन ने मजाक में कहा। मास्टर जी के पीछे स्कूल के भावी छात्र खड़े थे।

दूइशेन घबराया नहीं। चाची जवाब में कुछ बुदबुदायी, पर चाचा ने अनाज वाले गढ़े में से सिर ऊपर नहीं उठाया था। कामकाजी ढंग से वह आंगन के बीचोंबीच पड़े लकड़ी के कुंदे पर बैठ गया और पेंसिल और कागज हाथ में लेकर बोला--

"आज स्कूल में पढ़ाई शुरू होने वाली है, आपकी बेटी की उम्र क्या है ?"

कोई जवाब दिए बिना चाची ने गुस्से से मूसल को ओखली में मारा। स्पष्ट था कि वह बात नहीं करना चाहती थी। मैं अंदर ही अंदर सिमटी जा रही थी—अब क्या होगा ? दूइशेन ने मेरी ओर देखा और मुस्कुरा दिया और जैसा कि उस बार हुआ मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठा।

"आल्तीनाई, तू कितने साल की है ?," उसने पूछा।

मुझे जवाब देने की हिम्मत नहीं हुई।

"इससे तेरा क्या मतलब ? बड़ा आया है इंस्पेक्टर !," चाची झुंझलाकर बोली। "यह नहीं पढ़ेगी। जिन बच्चों के मां-बाप हैं, वे भी नहीं पढ़ते और इस यतीम की तो बात ही क्या ! तूने काफी भीड़ इकट्ठी कर ली है, जा इसे स्कूल ले जा, यहां तेरा कोई काम नहीं है।"

दूइशेन उछलकर खड़ा हो गया—

"जरा सोचिए तो, क्या कह रही हैं आप। कोई यतीम हो तो इसमें उसका क्या दोष ? क्या कोई ऐसा भी कानून है जिसके मुताबिक यतीमों को पढ़ने की इजाजत न हो ?"

"मुझे तेरे कानूनों से कोई मतलब नहीं। मेरे अपने कानून हैं, यहां तेरा हुक्म नहीं चल सकता !"

"हमारे कानून सभी के लिए बराबर हैं। अगर आपको इस लड़की की जरूरत नहीं, तो हमें—सोवियत सत्ता को—इसकी जरूरत है। अगर आप हमारा विरोध करेंगी, तो हम आपको सबक सिखा देंगे !"

"बड़ा आया सबक सिखानेवाला !," हाथ कमर पर रखते हुए चाची ने ललकारा। "इस पर कौन हुक्म चलाएगा, मैं जो इसे खिलाती-पिलाती हूं या तू, जिसका बाप भी आवारा था और जो खुद भी आवारागर्दी करता हुआ यहां आ टपका है..."

न जाने यह किस्सा कैसे खत्म होता, पर उसी वक्त कमर तक नंगे चाचा गढ़े में से बाहर निकले। जब कभी भी उनकी बीवी यह भूलकर कि घर में घर का मालिक—उसका खाविंद—मौजूद है, बढ़-चढ़कर बातें करती, तो चाचा आपे से बाहर हो जाते थे। इसके लिए वह चाची को बड़ी बेरहमी से पीटा करते थे। लगता था कि इस बार भी वह गुस्से से उबल रहे थे।

"अरी, ओ !," गढ़े में से निकलते हुए उन्होंने चिल्लाकर कहा। "कब से तू घर की कर्ता-धर्ता बन गई है, कब से तूने हुक्म चलाना शुरू कर दिया है ? थोड़ा बोला कर, ज्यादा काम किया कर। और तू ताश्तानबेग के बेटे, ले जा लड़की को, चाहे तो पढ़ा, चाहे भून डाल इसे, और अब निकल जा हमारे आंगन से !"

"वाह, यह भी अच्छी रही, वह तो स्कूल में मौज उड़ाएगी और मैं घर में अकेली पिसा करूंगी ?," चाची चिल्लाई, पर चाचा ने उसे चुप करा दिया—

"चुप रह, जो कहना था, कह दिया !"

बुराई में भी कोई भलाई छिपी रहती है। इस तरह मैं पहली बार स्कूल गई थी।

इस दिन के बाद हर रोज सुबह दूइशेन हमें घर-घर से इकट्ठा करता और पढ़ाने ले जाता।

पहले दिन उसने हमें भूसा बिछे फर्श पर बिठाया, हमें एक-एक कापी, एक-एक पेंसिल और एक-एक तख्ती बांट दी।

"लिखते वक्त तख्ती को घुटने पर रखते हैं," उसने हमें समझाया।

फिर उसने हमें दीवार पर चिपका हुआ एक रूसी व्यक्ति का चित्र

दिखाया।

"यह लेनिन हैं !" उसने कहा।

लेनिन का वह छविचित्र मुझे आज तक याद है। न जाने क्यों, बाद में मुझे कभी भी लेनिन का वैसा छविचित्र देखने को नहीं मिला और मैंने उसे मन ही मन "दूइशेन वाला" नाम दे रखा था। उस छविचित्र में लेनिन ने एक ढीली-ढाली फौजी जाकेट पहन रखी थी, उनके गाल धंसे हुए थे और दाढ़ी बढ़ी हुई थी। उनका जख्मी बाजू पट्टी में लटका हुआ था और उनकी टोपी के नीचे से, जो गुद्दी पर खिसकी हुई थी, सजग-सतर्क आंखें शांति से देखे जा रही थीं। उनकी कोमल, सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि जैसे हमसे कह रही थी, "काश तुम जानते, बच्चों, कैसा उज्ज्वल भविष्य तुम्हारी राह देख रहा है !" मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उस निस्तब्ध क्षण में वह सचमुच मेरे भविष्य के बारे में सोच रहे थे।

लगता था जैसे दूइशेन उस छविचित्र को मुद्दत से अपने साथ लिए घूम रहा था। चित्र एक मामूली इश्तहारी कागज पर छपा था। कागज जहां-तहां घिस गया था और उसके किनारे मुड़े हुए थे। बस इस छविचित्र को छोड़कर हमारे स्कूल की चारों दीवारों पर और कुछ भी नहीं था।

"बच्चो, मैं तुम्हें पढ़ना, गिनती करना सिखाऊंगा और यह दिखाऊंगा कि अक्षर और आंकड़े कैसे लिखे जाते हैं," दूइशेन कहने लगा, "जो कुछ मैं खुद जानता हूं, वह तुम्हें सिखा दूंगा..."

और सचमुच उसने अद्‌भुत धैर्य से हमें वह सब सिखाया जो वह स्वयं जानता था। हर शिष्य के ऊपर झुक-झुककर उसने यह दिखाया कि पेंसिल कैसे पकड़ते हैं और उत्साह से हमें वे शब्द समझाए, जो हमारी समझ के बाहर थे।

मैं आज भी सोचती और हैरान रह जाती हूं कि किस प्रकार वह अर्द्ध-शिक्षित युवक, जो मुश्किल से अक्षर जोड़-जोड़कर पढ़ पाता था, जिसके पास एक भी पाठ्यपुस्तक नहीं थी, यहां तक कि वर्णमाला की पुस्तक तक नहीं थी, कैसे एक ऐसे काम को हाथ में लेने का साहस कर पाया जो वास्तव में महान था। ऐसे बच्चों को पढ़ाना क्या कोई मजाक है, जिनकी पिछली सात पीढ़ियों ने स्कूल का नाम तक न सुना हो और निश्चय ही दूइशेन पाठ्य-कार्यक्रम के बारे में, अध्यापन-विधियों के बारे में कुछ भी नहीं जानता था। या यूं कहें कि वह इन चीजों के अस्तित्व तक से अनभिज्ञ था। दूइशेन हमें अंतःप्रेरणा के बल पर पढ़ाया करता था, अपनी सूझ के अनुसार पढ़ाता, जैसा पढ़ा सकता था, जैसा उसे आवश्यक जान पड़ता था। परंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि उसका वह उत्साह, वह जोश, जिसके साथ उसने हमें पढ़ाने की कोशिश की, निष्फल नहीं रहा। उसने अनजाने ही एक बड़ा कारनामा कर दिखाया। हां, बड़ा कारनामा, क्योंकि उन दिनों हम किर्गीज बच्चों के लिए, जिन्होंने कभी अपने गांव से बाहर कदम नहीं रखा था, उस स्कूल की बदौलत—अगर उस कच्चे बाड़े को स्कूल का नाम दिया जा सकता हो, जिसकी चौड़ी दरारों में से पहाड़ों की बर्फ से ढकी चोटियां नजर आया करती थीं—उस कच्ची कोठरी की बदौलत हमारी आंखों के सामने एक नया संसार खुल गया, एक ऐसा संसार जिसके बारे में हमने न कभी सुना था और न कभी देखा था।...

तभी हमें मालूम हुआ कि मास्को शहर, जहां लेनिन रहते थे, ताशकंद से भी कई गुना बड़ा है, कि संसार में तालास की घाटी जैसे बड़े-बड़े सागर हैं, कि उन सागरों में पहाड़ों जैसे बड़े-बड़े जहाज तैरते हैं। हमें पता चला कि हम बाजार से जो किरासिन लाते हैं, वह जमीन के नीचे से प्राप्त होता है। और उन्हीं दिनों हमें यह पक्का यकीन हो गया था कि जब हमारी जनता ज्यादा धनी हो जाएगी, तो हमारे स्कूल की बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाली बड़ी-सी सफेद इमारत होगी और विद्यार्थी कुर्सियों-मेजों पर बैठा करेंगे।

जैसे-तैसे केवल प्रारंभिक अक्षरों का बोध होने पर, जब हम अभी "पिता", "माता" भी नहीं लिख पाते थे, हमने कागज पर "लेनिन" लिखा। हमारे राजनीतिक शब्दकोष में "अमीर", "कमेरा", "सोवियतें" जैसे ही कुछ शब्द थे। और दूइशेन ने हमें वचन दिया कि एक साल के बाद वह हमें "क्रांति" शब्द लिखना सिखाएगा।

दूइशेन की बातों को सुनते हुए हम कल्पना करने लगते कि हम भी उसके साथ श्वेत गार्डों के विरुद्ध मोर्चों पर लड़ रहे हैं। और लेनिन के बारे में दूइशेन इतना अधिक और ऐसे जोश से बातें करता, जैसे उसने स्वयं अपनी आंखों से लेनिन को देखा हो। अब मैं समझती हूं कि उनमें से बहुत-सी बातें लेनिन संबंधी दंतकथाएं थीं, परंतु हम, "दूइशेन के छात्रों" के लिए वे वैसी ही सच्ची थीं जैसे दूध का सफेद होना।

एक बार हमने किसी विशेष प्रयोजन के बिना पूछा—

"मास्टर जी, आपने लेनिन से हाथ मिलाया था ?"

तब हमारे मास्टर ने झेंपकर सिर हिला दिया—

"नहीं बच्चो, मैंने लेनिन को कभी नहीं देखा।" और अपराधियों की भांति ठंडी सांस भरी, हमारे सामने वह अटपटा-सा महसूस करने लगा था...

हर महीने के अंत में दूइशेन अपने किसी काम से हलका-केंद्र जाया करता। वहां वह पैदल जाता और दो-तीन दिन के बाद लौट आता था।

अध्यापक की अनुपस्थिति में हम अपने को खिन्न और उदास महसूस करते। अगर मेरा अपना सगा भाई होता, तो मैं उसका भी इतनी बेचैनी से इंतजार न करती, जिस बेचैनी से मैं दूइशेन के लौटने का इंतजार किया करती थी। चोरी-छिपे, ताकि चाची न देख पाए, मैं बार-बार आंगन के पिछवाड़े भागती हुई जाती और देर तक स्तेपी की सड़क पर आंखें गड़ाए खड़ी रहती। किस वक्त पीठ पर थैला लटकाए मास्टर जी नजर आएंगे, किस वक्त रोम-रोम को पुलकित कर देनेवाली उनकी मुस्कान देख पाऊंगी, किस वक्त उनके मुंह से ज्ञान से भरे शब्द सुनने को मिलेंगे ?

दूइशेन के शिष्यों में मैं सबसे बड़ी थी। शायद इसी कारण मैं पढ़ाई में सबसे आगे थी। पर नहीं, मुझे लगता है, केवल यही कारण नहीं था। मास्टर जी का एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर जो वह हमें सिखाते थे, मेरे लिए पवित्र था। मेरे लिए इससे बड़ा, इससे ऊंचा कोई कर्तव्य न था कि मैं दूइशेन द्वारा सिखाई जानेवाली बातों को किसी भांति ग्रहण कर पाऊं। स्कूल में मुझे जो कापी दी गई थी, उसे मैं संभालकर रखे हुए थी, इसलिए मैं दरांती की नोक से जमीन पर अक्षर बनाती थी, कोयले से दीवारों पर, बर्फ तथा सड़क की धूल पर लिखती थी। संसार भर में मेरे लिए दूइशेन से बड़ा कोई विद्वान और बुद्धिमान व्यक्ति नहीं था।

सर्दी का मौसम आया।

पहली बर्फ पड़ने तक हम एक पहाड़ी नाले को लांघकर स्कूल जाया करते थे। बाद में यह असह्य हो गया : बर्फीला पानी इतना ठंडा होता कि हड्डियां तक सुन्न हो जातीं, खासतौर पर छोटे बच्चों को तो बहुत ही ज्यादा तकलीफ होती। उनकी आंखों में आंसू आ जाते। तब दूइशेन ने उन्हें खुद उठा-उठाकर नाले के पार लाना शुरू कर दिया। एक बच्चे को वह पीठ पर बिठा लेता, दूसरे को गोद में उठा लेता और इस तरह, बारी-बारी से वह सभी को पार ले जाता।

आज, उन दिनों को याद करते हुए मुझे यकीन नहीं होता कि कभी ऐसा भी हो सकता था। पर उन दिनों अपनी अशिष्टता या अपनी बेसमझी के कारण लोग दूइशेन पर हंसा करते थे। विशेषकर वे धनी लोग जो जाड़े में पहाड़ों पर रहते थे। वे यहां **पनचक्की** पर आया करते। कितनी ही बार, जब हम नाला लांघ रहे होते, तो ये लोग लाल लोमड़ी की खाल की टोपियां पहने, भेड़ की खाल के बढ़िया कोट डाटे, मोटे-ताजे और बेकाबू घोड़ों पर सवार हमारे बराबर आ जाते, हैरत से आंखें फाड़-फाड़कर दूइशेन की ओर देखते, फिर ठहाका मारकर हंसते और एक-दूसरे को कोहनी मारकर कहते—

"देखो, वह क्या कर रहा है : एक को पीठ पर उठा रखा है, दूसरे को बांहों में !"

इस पर दूसरा अपने हिनहिनाते घोड़े को एड़ मारकर कहता—

"मैं भी कैसा उल्लू हूं ! पहले क्यों ध्यान नहीं दिया ! यह रहा वह आदमी जिसे अपनी दूसरी बीवी बनाना चाहिए था !"

और घोड़ों के सुमों से उड़ती मिट्टी और कीच के छींटों से हमें तर-बतर करते तथा ठहाका मारते हुए वे चले जाते।

उस वक्त मेरा जी चाहता कि दौड़कर इन मोटे-मोटे फर-कोट वालों के पास जा पहुंचूं, इनके घोड़ों की लगामें पकड़ लूं और चिल्लाकर इनसे कहूं, "तुम मूर्ख हो, पाजी हो ! तुम्हारी यह हिम्मत कि हमारे मास्टर जी के बारे में यों बकवास करो।"

किंतु एक साधारण बालिका की ओर भला कौन ध्यान देता ? मैं केवल ठेस के कड़वे आंसू पीकर रह जाती। पर दूइशेन इस तिरस्कार की ओर बिल्कुल ध्यान न देता, मानो उसने कुछ सुना ही न हो। वह कोई न कोई चुटकुला—मजाक सोच लेता और हम सब कुछ भूलकर, खिलखिलाकर हंसने लगते।

दूइशेन को बहुत कोशिश करने पर भी नाले पर पुल बनाने के लिए लकड़ी नहीं मिल रही थी। एक बार छोटे बच्चों को नाला पार करा चुकने के बाद हम दूइशेन के साथ नाले के पास रुक गए। हमने पत्थरों और घास-मिट्टी से नाले के आर-पार रास्ता बनाने का निश्चय किया।

सच बात तो यह थी कि गांव वालों के लिए इतना भर कर देना काफी था कि वे मिलकर नाले के आर-पार दो-तीन लकड़ी के कुंदे डाल देते और इस तरह स्कूली बच्चों के लिए पुल तैयार हो जाता। परंतु उन दिनों लोग अपनी अज्ञानता के कारण शिक्षा को कोई महत्व नहीं देते थे और दूइशेन को एक अजीब-सा जीव समझते थे जो बच्चों के साथ या तो इसलिए उलझा रहता था कि उसके पास करने को कुछ नहीं था, या फिर अपने मनबहलाव के लिए। उनका रवैया यह था : अगर तुम्हें जरूरत है, तो इन्हें पढ़ाओ, वरना घर भेज दो। वे स्वयं घोड़ों पर चढ़कर जाते थे, उन्हें पुलों की क्या जरूरत थी। फिर भी हमारे लोग यह सोचे बिना नहीं रह पाते थे : किसलिए यह नौजवान, जो औरों से न तो किसी तरह बुरा था और न ही कमअक्ल, इतनी कठिनाइयों और अभाव को सहन करता हुआ, लोगों के उपहास और तिरस्कार को बर्दाश्त करता हुआ उनके बच्चों को ऐसे हठ से, मानवेतर दृढ़ता से पढ़ाए जा रहा था ?

जब हम नाले के तल में पत्थर आदि रखकर रास्ता बनाने लगे, तो चारों ओर बर्फ पड़ चुकी थी और पानी इतना ठंडा था कि झुरझुरी आती थी। मैं इस बात की कल्पना करने में असमर्थ थी कि दूइशेन किस तरह सांस लिए बिना नंगे पांव ही बड़े-बड़े पत्थर घसीटकर नाले में डालता जाता था। मैं बड़ी मुश्किल से पानी में पांव रख पाई थी, नाले का तल जैसे जलते हुए कोयलों से ढका था। सहसा मेरी पिंडलियां ठंड से अकड़ गईं। मैं न तो चिल्ला सकती थी, न सीधी खड़ी रह सकती थी। मैं धीरे-धीरे पानी में गिरने लगी। मेरी ऐसी हालत देखते ही दूइशेन ने पत्थर को छोड़ दिया और लपककर मेरे पास पहुंचा और मुझे बांहों में भरकर बाहर ले आया। किनारे पर उसने मुझे अपने ग्रेटकोट पर बिठा दिया। ठंड से नीले हो जानेवाले मेरे पांव सुन्न हो रहे थे। वह कभी मेरे ठिठुरे पैरों को मलता और कभी बर्फ जैसे ठंडे मेरे हाथों को अपनी हथेलियों में लेकर अपनी सांसों से गर्माता।

"नहीं, नहीं, आल्तीनाई, इसकी कोई जरूरत नहीं, तुम यहीं बैठो, अपने को गर्म करो," दूइशेन ने कहा, "मैं खुद ही इस काम से निबट लूंगा..."

अंत में, जब पत्थर लगा दिए गए और रास्ता बन गया, तो बूट पहनते हुए दूइशेन ने मेरी ओर देखा—मैं बेहद ठिठुरी और सिकुड़ी-सी बैठी थी—और मुस्कुराकर बोला—

"कहो, मेरी सहायिका, कुछ गर्मी आई बदन में ? कोट को अच्छी तरह लपेट लो, ऐसे !" फिर थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद बोला, "उस रोज, आल्तीनाई, तुम्हीं स्कूल के बाहर उपले छोड़ गई थीं न ?"

"जी, हां," मैंने जवाब दिया।

उसके होंठों के कोनों पर एक हलकी-सी मुस्कान खिल उठी, मानो वह मन ही मन कह रहा हो, "मैंने ऐसा ही समझा था !"

मुझे याद है, उस वक्त मेरे गाल जल रहे थे : इसका मतलब है कि मास्टर जी को पता चल गया है और वह इस घटना को भूले नहीं हैं, हालांकि यह बड़ी मामूली-सी बात थी। मैं बेहद खुश थी, सातवें आसमान पर थी। दूइशेन मेरी खुशी को समझ गया।

"तुम तो मेरी आशाओं का तारा हो", बड़े स्नेह से मेरी ओर देखते हुए उसने कहा। "पढ़ने में होशियार हो...काश कि मैं तुम्हें किसी बड़े शहर में पढ़ने के लिए भेज सकता ! तुम क्या से क्या बन जातीं !"

दूइशेन तेजी से डग भरता हुआ नदी की ओर चला गया।

आज भी उसकी आकृति मेरी आंखों के सामने आ जाती है—उस पथरीली, शोर मचाती छोटी-सी नदी या नाले के किनारे खड़ा, सिर के पीछे दोनों हाथ

बांधे, चमकती आंखों से दूर सामने की ओर देखता हुआ जहां हवा सफेद बादलों को पहाड़ों के ऊपर से उड़ाए लिए जा रही थी।

उस क्षण वह क्या सोच रहा था ? शायद, सचमुच अपने सपनों में उसने मुझे किसी बड़े शहर में पढ़ने के लिए भेज दिया था ? उस समय दूइशेन के ग्रेटकोट को अपने इर्द-गिर्द लपेटती हुई मैं सोच रही थी। "कितना अच्छा होता अगर मास्टर जी मेरे सगे भाई होते ! कितना अच्छा होता अगर मैं उनकी गर्दन में बाहें डालकर उन्हें छाती से लगा लेती और आंखें मूंदकर उनके कान में प्यार-से शब्द फुसफुसा पाती ! हे भगवान, इन्हें मेरा सगा भाई बना दो !"

मैं सोचती हूं कि उस समय हम सभी अपने अध्यापक को उनकी मानवीयता, उनकी अच्छी भावनाओं और हमारे भविष्य संबंधी उनके स्वप्नों के कारण ही प्रेम करते थे। हम उस समय बच्चे थे, फिर भी मैं सोचती हूं कि हम इस बात को अच्छी तरह से समझते थे। वरना हमारे लिए कौन-सी मजबूरी थी कि हम बर्फ के ढेरों और अंधड़ों में से पहाड़ी की खड़ी ढलान पर चढ़कर इतनी दूर स्कूल जाते, कौन-सी मजबूरी थी कि उस ठंडी कोठरी में बैठते, जहां सर्दी के कारण जमी सांस की चेहरे, हाथों और कपड़ों पर सफेद तह जम जाती थी। कोई जोर-जबर्दस्ती से हमें वहां नहीं ले जाता था, हम स्वयं स्कूल जाते थे। वहां केवल बारी-बारी से हम अंगीठी के पास जाकर अपने को गरमाते और अन्य विद्यार्थी अपनी-अपनी जगह पर बैठे हुए दूइशेन से पढ़ना-लिखना सीखते रहते थे।

ऐसे ही एक दिन, जो मुझे आज भी बहुत अच्छी तरह से याद है, कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। जनवरी के अंतिम दिन थे, हमेशा की तरह घर-घर जाकर दूइशेन ने हमें इकट्ठा किया और स्कूल ले चला। इस बार वह चुपचाप, बड़ी कठोर मुद्रा बनाए चल रहा था—उसकी भौंहें उकाब के पंखों की तरह तनी हुई थीं और चेहरा काले, तपे लोहे जैसा ढला हुआ था। हमने अपने अध्यापक को पहले कभी इस रूप में नहीं देखा था। उसे देखकर हम भी चुप हो गए, हमें लगा जैसे कोई बुरी बात हो गई है।

सड़क पर जब बर्फ के बड़े-बड़े ढेर सामने आ जाते; तो आमतौर पर दूइशेन आगे-आगे रास्ता बनाता हुआ जाता, उसके पीछे मैं होती और मेरे पीछे छोटे लड़के-लड़कियां। अब की बार भी जब हम पहाड़ी के दामन में पहुंचे, जहां एक ही रात में बर्फ के बड़े-बड़े ढेर बन गए थे, तो दूइशेन आगे-आगे जाने लगा। कभी-कभी इनसान की पीठ को देखकर इस बात का पता चल जाता है कि उसके दिल की क्या कैफियत है। इस वक्त भी बिल्कुल स्पष्ट था कि हमारे मास्टर जी किसी गम में घुल रहे हैं। वह सिर झुकाए चले जा रहे थे और बड़ी कठिनाई से पांव घसीट रहे थे। मुझे आज भी याद है कि बारी-बारी से भयानक काले और सफेद धब्बे मेरी आंखों के सामने उभर रहे थे : हम एक के बाद एक टीले पर चढ़ रहे थे—काले ग्रेटकोट के नीचे दूइशेन की पीठ झुकी हुई थी और उसके ऊपर ढलान के साथ-साथ ऊंट की पीठ की भांति सफेद बर्फ के तूदे झुके हुए थे। तेज हवा उन पर से बर्फ की पतली परत को उड़ाए लिए जा रही थी। उससे भी ऊपर—सफेद, धुंधले आकाश में अकेला काला बादल मंडरा रहा था।

स्कूल में प्रवेश करने पर दूइशेन ने अंगीठी नहीं जलाई।

"खड़े हो जाओ," उसने हुक्म दिया।

हम सब खड़े हो गए।

"सिर पर से टोपियां उतार लो।"

हमने टोपियां उतार लीं। उसने भी अपनी फौजी टोपी उतार ली। हम नहीं समझ पा रहे थे कि क्या बात है। तब मास्टर जी ने कांपती, टूटती हुई-सी आवाज में कहा--

"लेनिन का देहांत हो गया है। दुनिया भर में लोग इस वक्त शोक मना रहे हैं। और तुम भी अपनी-अपनी जगह पर खड़े रहो, दम साधे रहो। इधर इस चित्र की ओर देखो। यह दिन तुम्हें सदा याद रहे।"

हमारे स्कूल में उस वक्त ऐसी चुप्पी छाई थी, मानो वह बर्फ के ढेर के नीचे दबा पड़ा हो। हमें सुनाई दे रहा था कि किस भांति हवा दरारों में से अंदर आ रही है; किस भांति पुआल पर सरसराते हुए हिमकण गिर रहे हैं।

उस समय जब चहल-पहल से भरे नगर मौन हो गए, घरघराते कारखानों में खामोशी छा गई, धड़-धड़ाती रेलगाड़ियां सहसा रुक गईं, संसार भर पर गहरा मातम छा गया, उस शोकपूर्ण घड़ी में, हम लोग—जनता के एक भाग का छोटा-सा कणमात्र—दम साधे अपने अध्यापक के साथ दूसरों के लिए अनजानी, ठिठुरनभरी कोठरी में, जो स्कूल कहलाती थी, मातम मना रहे थे और मन ही मन लेनिन के अनुयाइयों में अपने को सबसे नजदीकी, सबसे अधिक दुखी मानते हुए उनसे विदा ले रहे थे। और हमारे लेनिन ढीली-ढाली, फौजी जाकेट पहने, जख्मी बाजू पट्टी में लटकाए, दीवार पर से हमारी ओर पहले की ही भांति देखे जा रहे थे। वह अपनी चमकती निर्मल दृष्टि से पहले की ही भांति हमसे कह रहे थे, "काश कि तुम जानते, बच्चो, कैसा उज्ज्वल भविष्य तुम्हारी राह देख रहा है !" और उस निस्तब्ध क्षण में मुझे ऐसे लगा जैसे कि वह वास्तव में मेरे भविष्य के बारे में सोच रहे हैं।

दूइशेन ने आस्तीन से अपनी आंखें पोंछीं और हमसे कहा—

"आज मैं हलका-केंद्र चला जाऊंगा। मैं पार्टी में अपना नाम लिखवाने जा रहा हूं। तीन दिन के बाद लौटूंगा।"

इन तीन दिनों की मैं हमेशा जाड़े के कठोरतम दिनों के रूप में कल्पना करती हूं। तब तो महती शक्तियां पृथ्वी पर उस महान व्यक्ति के स्थान की पूर्ति करने का प्रयास कर रही थीं जो संसार में नहीं रहे थे : हवाएं जोर से ढलानों पर गूंज रही थीं, बर्फ के अंधड़ चल रहे थे, पाला लोहे की तरह घनघना रहा था...प्रकृति की अंधी ताकतें बेचैनी से छटपटा रही थीं, धरती पर सिर पटक-पटककर रो रही थीं...

घने बादलों से ढके पहाड़ के दामन में बसे हमारे गांव पर मौन छा गया। चिमनियों में से धुएं की पतली-सी शिखाएं निकल रही थीं। लोग घरों से बाहर नहीं निकल रहे थे। इसके अलावा भेड़ियों के झुंड सहसा बड़े भयंकर हो उठे थे। वे बड़े उद्दंड हो गए थे, दिन के वक्त स्तेपी से निकलकर सड़कों पर भागते फिरते, रात को गांव के निकट घूमा करते और दिन चढ़ने तक भूखी, दर्दनाक आवाज में चिल्लाते रहते।

किसी कारण मैं दूइशेन के बारे में चिंतित हो उठी थी: ऐसी सर्दी में, पोस्तीन के बिना, सिर्फ ग्रेटकोट में वह कैसे वक्त काट रहा होगा ? उस दिन जब दूइशेन को लौटना था, मेरा माथा ठनका, मेरे दिल को जैसे कोई बात अंदर ही अंदर कुरेदने लगी। मैं बार-बार घर से बाहर भाग जाती और आंखें फाड़-फाड़कर बर्फ से ढकी निर्जन स्तेपी को देखने लगती। मास्टर जी शायद कहीं सड़क पर नजर आ जाएं ? कहीं भी कोई इनसान नजर नहीं आ रहा था।

"कहां हैं वह, कहां हैं हमारे मास्टर जी ? मैं विनती करती हूं, मास्टर जी, अधिक नहीं रुकिए, जल्दी से लौट आइए ! हम आपकी राह देख रहे हैं, सुनते हैं आप, मास्टर जी, हम आपकी राह देख रहे हैं !"

स्तेपी ने मेरी मूक पुकार का काई उत्तर नहीं दिया, और मैं, न जाने क्यों, रो रही थी।

मेरे बार-बार बाहर जाने से चाची खीझ उठीं।

"आज तू दरवाजा तोड़कर ही रहेगी ? बैठ जा अपनी जगह पर, धागा बट बैठकर। बच्चे ठिठुर रहे हैं। अब जरा बाहर झांककर तो देख !" उसने गरजकर कहा और उसके बाद मुझे घर से नहीं निकलने दिया।

शाम घिर आई। मैं नहीं जानती थी कि दूइशेन लौटा है या नहीं। मैं बड़ी उद्विग्न हो उठी थी। कभी तो मैं यह सोचकर अपने को ढाढ़स बंधाती कि दूइशेन शायद गांव में पहुंच चुका है, अब तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि वह कहकर जाए कि इतने दिन में लौट आएगा और न लौटे। फिर सहसा मुझे लगा जैसे वह बीमार पड़ गया है और धीरे-धीरे चलता आ रहा है। बर्फ का अंधड़ आ रहा है और ऐसी हालत में रात के वक्त स्तेपी में रास्ते से भटक जाना मुश्किल नहीं है...मुझसे काम नहीं हो रहा था, मेरे हाथ मेरा कहा नहीं मान रहे थे, बार-बार धागा टूट जाता था। इस पर चाची बौखला उठी—

"आज तुझे क्या हो गया है ? तेरे हाथ काठ के बने हैं क्या ?" कनखियों से मेरी ओर देखते हुए उसने फुंकारकर कहा और इसके बाद उसका धैर्य टूट गया। "अरी, तुझे मौत भी नहीं आती ! जाकर बुढ़िया साइकाल को उसका बोरा दे आ।"

यह सुनकर मैं तो खुशी से लगभग उछल पड़ी। दूइशेन बुढ़िया साइकाल के यहीं रहता था। बुजुर्ग साइकाल और करतनबाई मां की ओर से मेरे दूर के संबंधी थे। पहले मैं अक्सर उनके घर जाया करती थी और कभी-कभी रात को वहीं सो भी जाया करती थी। न जाने चाची को यह याद आ गया या भगवान ने उसके मन में यह बात डाल दी, बोरा मेरे हवाले करते हुए बोली—

"आज तूने मेरी नाक में दम कर दिया है। अकाल के दिनों में जई के आटे के कारण भी इतनी परेशानी नहीं होती। और अगर बुढ़ऊ तुझे वहीं रात बिताने के लिए कहें, तो वहीं पड़ रहना। अब जा, मेरी आंखों से दूर हो जा..."

मैं भागती हुई आंगन में जा पहुंची। हवा जादू-टोना करनेवाले की भांति गरज रही थी। कुछ देर के लिए वह रुक जाती और उसके बाद फिर मुझ पर टूट पड़ती और मेरे तपते चेहरे पर मुट्ठियां भर-भरकर चुभती बर्फ फेंकने लगती। मैंने बोरा बगल में दबा लिया और उसी रास्ते से गांव के दूसरे छोर की ओर भाग चली, जिस रास्ते पर घोड़ों के सुमों के ताजा निशान नजर आ रहे थे। मेरे मन में एक ही विचार घूम रहा था : मास्टर जी लौट आए हैं या नहीं, मास्टर जी लौट आए हैं या नहीं ?

मैं भागती हुई बुढ़िया के घर जा पहुंची। पर मास्टर जी वहां नहीं थे। जब मैं हांफती हुई एक बुत की तरह सहसा दहलीज पर नमूदार हुई, तो साइकाल डर गई—

"तुझे क्या हुआ है ? ऐसे भागती हुई आई है, क्या कोई बुरी खबर लाई है ?"

"नहीं तो, यों ही चली आई हूं। आपका बोरा देने आई हूं। क्या मैं रात भर यहीं रह जाऊं, नानी ?"

"रह जा, जरूर रह जा, मेरी लाडली। अरी, मैं तो कैसे डर गई ! कितनी बुरी है तू ! तूने पतझड़ के बाद मुंह तक नहीं दिखाया। आग के पास बैठ जा, बदन गर्मा ले।"

"बुढ़िया, कड़ाही में गोश्त डाल दे। बेटी को कुछ खिला। दूइशेन भी आनेवाला है," करतनबाई बोला, जो खिड़की के पास बैठा पुराने फेल्ट बूट गांठ रहा था। "उसे तो कभी का घर पहुंच जाना चाहिए था, मगर उसका कहीं पता नहीं। कोई बात नहीं, रात होने तक लौट आएगा। हमारा घोड़ा घर की ओर जल्दी से लौटता है।"

पता भी नहीं चला और रात के पर्दों ने खिड़कियों को ढक दिया। मेरे कान बाहर की ओर लगे हुए थे। जब कभी कुत्तों के भूंकने या लोगों के बोलने की आवाज सुनाई देती, तो मेरा दिल धक-धक करने लगता। दूइशेन नहीं आया। यही अच्छी बात थी कि साइकाल के बातें करते रहने से बहुत-सा वक्त कट गया।

इस तरह उसकी राह देखते-देखते घंटों बीत गए। आखिर आधी रात बीत जाने पर करतनबाई थक गया—

"बिस्तर बिछा दो, बुढ़िया, आज वह नहीं आएगा। देर हो गई है। अधिकारियों के पास काम की क्या कमी है, रोक लिया होगा। यही वजह होगी, नहीं तो कब का घर पहुंच गया होता।" और बूढ़ा बिस्तर पर चला गया।

मेरे लिए अंगीठी के पास, कोने में बिस्तर लगा दिया गया। पर मैं सो नहीं पाई। बूढ़ा खांसता-खंखारता प्रार्थना के शब्द बुदबुदाता रहा और बाद में परेशान होकर बड़बड़ाया—

"न जाने, मेरा घोड़ा किस हालत में है ? भूसे का तिनका तक बिना पैसे के नहीं देंगे और पैसे दो, तो भी जई का दाना कोई नहीं देता।"

थोड़ी देर में करतनबाई सो गया, पर हवा परेशान करने लगी। वह जैसे टटोल-टटोलकर चल रही थी, छत के सिरों को अपनी पांचों खुरदुरी उंगलियों से हिला और शीशों को खरोंच रही थी। मैं सुन रही थी कि आंगन में किस भांति अंधड़ दीवारों को पीटे जा रहा था।

बूढ़े के शब्दों से मेरी दिलजमई नहीं हुई। मुझे लग रहा था कि मास्टर जी आ रहे हैं, मैं उन्हीं के बारे में सोच रही थी और मन ही मन उन्हें बर्फ से ढके बीहड़ इलाके में रास्ते पर बढ़ते हुए देख रही थी।

मैं बेचैन-सी नींद सो गई। नहीं जानती, कितनी देर तक मेरी आंख लगी रही, जब सहसा मैं सिर से पांव तक कांप उठी : एक गुनगुनाती हुई, गुर्राने की दबी-दबी-सी आवाज जमीन पर से उठी और लंबी खिंचती हुई हवा में जमकर रह गई।

भेड़िया ! एक नहीं, बहुत-से भेड़िए थे ! अलग-अलग दिशाओं से वे एक-दूसरे को आवाज देते हुए बड़ी तेजी से नजदीक आ रहे थे। उनकी चीख-चिल्लाहट और आवाजें एकसाथ घुल-मिलकर स्तेपी में इधर से उधर घूम रही थीं, हवा के साथ कभी नजदीक आ जातीं, कभी दूर निकल जातीं। कभी-कभी लगता जैसे भेड़िए कहीं बिल्कुल ही निकट, गांव के छोर पर आ गए हैं।

"बर्फ के अंधड़ को पुकार रहे हैं," बुढ़िया ने फुसफुसाकर कहा।

बूढ़ा चुप रहा और कान लगाकर सुनने लगा, फिर बिस्तर पर से उछल पड़ा—

"नहीं, बुढ़िया, यह इतनी सीधी-सादी बात नहीं है, भेड़िए किसी के पीछे पड़े हुए हैं, किसी इनसान को या किसी घोड़े को घेर रहे हैं। सुनती हो ? भगवान भला करे, कहीं दूइशेन ही न हो। उसे किसी का डर-भय नहीं है, पागल कहीं का।" करतनबाई बेचैन हो उठा और अंधेरे में खाल का कोट टटोलने लगा : "रोशनी करो, लैंप जलाओ, बुढ़िया ! हे भगवान जल्दी करो !"

भय से कांपते हुए हम उठ खड़े हुए और अभी बुढ़िया ने लैंप ढूंढा ही था और आग जलाकर रोशनी की ही थी कि भेड़ियों का भयंकर चीत्कार फौरन बंद हो गया।

"दबोच लिया, कमबख्तों ने !" करतनबाई चिल्लाया और बैसाखी उठाकर दरवाजे की ओर लपका, लेकिन उसी वक्त कुत्ते भूंकने लगे। कोई आदमी भागता हुआ, बर्फ पर बूटों के तलों को चरमराता हुआ आया और बड़े जोर और अधीरता के साथ दरवाजा खटखटाने लगा।

सर्दी के कारण आंगन में से सफेद हवा का बादल जैसा झोंका अंदर आया। जब वह छंट गया तो हमें दूइशेन नजर आया। उसका चेहरा एकदम फक्क था, उसकी सांस फूल रही थी। उसने देहरी को लांघा और लड़खड़ाते हुए दीवार का सहारा लेकर खड़ा हो गया।

"बंदूक !" उसने हांफते हुए कहा।

हमने मानो उसके शब्द को समझा ही नहीं। मेरी आंखों के आगे अंधेरा छा गया, मुझे केवल बूढ़ों का बुदबुदाना सुनाई दिया—

"काली भेड़ कुर्बान करूंगा, सफेद भेड़ कुर्बान करूंगा ! तुम्हें पवित्र बाउबेदिन सलामत रखे। क्या यह तुम्हीं हो ?"

"बंदूक, बंदूक दो !" दूइशेन ने दोहराया।

"नहीं है बंदूक, कहां जा रहे हो ?"

बूढ़े पति-पत्नी ने दूइशेन को कंधों से पकड़ लिया।

"कोई लाठी ही दे दो।"

परंतु उन्होंने इसरार किया—

"तुम बाहर नहीं जाओगे, जब तक हम जीते हैं, तुम बाहर नहीं जाओगे। पहले हमें मार डालो, फिर जहां मन आए जाना !"

सहसा मुझे अपने सारे बदन में एक अजीब-सी शिथिलता का भास हुआ और मैं चुपचाप जाकर बिस्तर पर पड़ी रही।

"नहीं पहुंच पाया, घर तक पीछा करते रहे।" कोड़े को कोने में फेंकते हुए दूइशेन ने जोर से सांस ली। "घोड़ा रास्ते में ही थककर चूर हो गया था। और जब भेड़ियों ने पीछा किया, तो वह भागता हुआ गांव तक पहुंचा और वहीं ढेर हो गया। वहीं भेड़िए उस पर टूट पड़े।"

"कोई गम न करो घोड़े का। यही गनीमत है कि तुम जिंदा बच गए। अगर घोड़ा नहीं गिरता, तो वे तुम्हें कब छोड़नवाले थे ! सब के रक्षक बाउबेदिन की दया से यह मामला इस तरह खत्म हुआ है। अब कपड़े उतारकर आग के पास बैठ जाओ। लाओ तुम्हारे बूट उतार दूं," करतनबाई इधर-उधर दौड़-धूप करने लगा, "और तुम, बुढ़िया, घर में जो कुछ भी खाने के लिए है, वह गर्म कर दो..."

वे आग के पास बैठ गए और तब करतनबाई ने चैन की सांस ली।

"चलो, जो होना था, हो गया। पर तुम इतनी देर से वहां से क्यों चले ?"

"दादा हलका-केंद्र की पार्टी-समिति की बैठक बहुत देर तक चलती रही। मैं पार्टी में शामिल हो गया हूं।"

"बड़ी अच्छी बात है। लेकिन तुम अगले दिन की सुबह को वहां से रवाना हो सकते थे। तुम्हें कोई वहां से धकेल तो नहीं रहा था।"

"मैंने बच्चों को वचन दिया था कि मैं आज जरूर लौट आऊंगा," दूइशेन ने जवाब दिया, "कल हमें जरूर पढ़ाई शुरू कर देनी है।"

"पगला कहीं का !" करतनबाई उठकर बैठ गया और गुस्से के कारण जोर-जोर से सिर हिलाने लगा। "सुनती हो, बुढ़िया ? देखती हो, इसने इन बच्चों को, इन पिल्लों को वचन दे रखा था ! भाड़ में जाएं ये सब ! और अगर तुम जिंदा ही न बचते, तो ? जरा सोचो, दिमाग से काम लो, तुम कह क्या रहे हो ?"

"यह मेरा कर्तव्य है, मेरा काम है, दादा। लेकिन मुसीबत तो दूसरी है। आमतौर पर मैं पैदल जाता था, इस बार शैतान ने दिमाग पर ऐसा पर्दा डाला कि आपसे घोड़ा मांग ले गया और उसे भेड़ियों के हवाले कर आया..."

"हटाओ इस बात को, भाड़ में जाए घोड़ा। बिल्कुल निकम्मा घोड़ा था। उसकी कुर्बानी देकर हमने तुम्हें पाया है !" करतनबाई ने उत्तेजित होकर कहा। "सारी उम्र घोड़े के बिना रहा, अब भी उसके बिना मेरा काम चल जाएगा। और अगर सोवियत सत्ता कायम रहेगी तो मुझे और घोड़ा मिल जाएगा..."

"बिल्कुल ठीक कह रहे हो," रुंधे हुए गले से साइकाल बोली, "और घोड़ा मिल जाएगा...आओ बेटा, खाना गरम है, खा लो..."

वे चुप हो गए। पर मिनट भर बाद उपलों की आग को ठीक करते हुए करतनबाई कुछ सोचकर बुदबुदाया—

"मैं देखता हूं, दूइशेन, तुम बुद्धू नहीं, खासे समझदार लड़के हो। पर मैं यह नहीं समझ पाता कि तुम इस स्कूल और इन अल्हड़ बच्चों के झंझट में किसलिए पड़े हुए हो ? क्या तुम्हें कोई और काम नहीं मिलता ? किसी के यहां चरवाहे का काम करने लगो, तो सुख-चैन से तुम्हारी बसर हो..."

"मैं आपकी बात समझता हूं, दादा, आप मेरा भला चाहते हैं। लेकिन अगर ये अल्हड़ बच्चे भी बड़े होकर वही कुछ कहेंगे जो आप कह रहे हैं—कि स्कूल की कोई जरूरत नहीं, पढ़ाई-लिखाई की हमें क्या जरूरत है, तो सोवियत सत्ता का काम बहुत आगे नहीं बढ़ पाएगा। और आप तो चाहते हैं न कि वह कायम रहे, बनी रहे। फिर, दादा, मेरे लिए स्कूल बोझ नहीं है। मैं बच्चों को ज्यादा अच्छी तरह से पढ़ा पाऊं, मेरी इससे बड़ी कोई ख्वाहिश नहीं है। लेनिन ने इसी बात की चर्चा की है..."

"हां, मुझे याद आया," करतनबाई ने उसे टोक दिया और कुछ देर चुप रहकर कहने लगा, "तुम लगातार गम में घुलते रहते हो, पर अपने आंसुओं से लेनिन को जिंदा तो नहीं कर सकते ! काश कि संसार में ऐसी कोई ताकत होती जो उन्हें जिंदा कर पाती। या फिर क्या तुम समझते हो कि और लोगों को दुख नहीं है, उनके चले जाने पर दूसरे लोग शोक नहीं मना रहे हैं ? तुम मेरी पसलियों के नीचे झांककर देखो, मेरा दिल टूक-टूक हो रहा है। मैं नहीं जानता कि यह तुम्हारे विचारों से मेल खाता है या नहीं, लेनिन दूसरे मत को माननेवाले थे, लेकिन मैं दिन में पांच बार उनके लिए नमाज पढ़ता हूं। मगर मैं सोचता हूं, दूइशेन, उनके लिए हम कितना भी शोक क्यों न मनाएं, इससे कोई फायदा नहीं होगा। मैं तो बूढ़ा हूं, बूढ़ों की तरह ही सोचता हूं। मैं यही कहूंगा कि लेनिन अब भी जनता के बीच जिंदा हैं, जैसे बाप का खून बच्चों में जाता है, वैसे ही

लेनिन पीढ़ी-दर-पीढ़ी जिंदा रहेंगे..."

"बहुत, बहुत धन्यवाद इन शब्दों के लिए। आपकी बात बिल्कुल सही है। लेनिन ने आंखें बंद कर ली हैं, वह हमारे बीच से चले गए, पर हम उन्हीं की कसौटी से जिंदगी को परखेंगे..."

मैं इस वार्तालाप को सुनती हुई धीरे-धीरे संभल गई। शुरू-शुरू में तो सब कुछ एक स्वप्न-सा लगता था। बड़ी देर तक मुझे इस बात का विश्वास नहीं हो पाया कि दूइशेन सही-सलामत लौट आया है। फिर वसंत की झड़ी की भांति मेरे उन्मुक्त हृदय में अनवरत और अबाध हर्ष फूट पड़ा। उसके स्निग्ध प्रवाह में मेरा गला रुंध गया और मैं फफक-फफककर रोने लगी। शायद कभी कोई इतना खुश नहीं हुआ होगा, जितनी मैं इस वक्त खुश थी। इस घड़ी मेरे लिए किसी चीज का कोई अस्तित्व ही नहीं था : बड़े-बूढ़ों के इस घर का, बाहर तूफानी रात का, भेड़ियों के झुंड का, जो गांव के छोर पर करतनबाई के एकमात्र घोड़े की बोटी-बोटी नोच रहे थे—किसी भी चीज का अस्तित्व नहीं था ! अपने दिल, अपनी पूरी चेतना के साथ मैं उस असाधारण सुख का अनुभव कर रही थी जो प्रकाश की भांति असीम और अनंत था। मैंने सिर ढक लिया, मुंह को कसकर बंद कर लिया ताकि कोई मेरा रोना नहीं सुन पाए, फिर भी मैं अपने रुदन को छिपा नहीं सकी।

"अंगीठी के पास कौन रो रहा है ?" दूइशेन ने पूछा।

"आल्तीनाई है, अभी डर गई थी, इसीलिए रो रही है," साइकाल ने कहा।

"आल्तीनाई ? वह कहां से आ गई ?" दूइशेन उठ खड़ा हुआ और मेरे सिरहाने घुटने के बल बैठकर मेरा कंधा हिलाने लगा। "तुझे क्या हुआ है, आल्तीनाई ? रो क्यों रही है ? बता तो मुझे।"

मैं और भी फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने मुंह दीवार की ओर कर लिया, आंसू पहले से भी ज्यादा तेजी से बहने लगे।

"वाह आल्तीनाई, भला यों भी कोई डर जाता है ? यह भी कोई बात हुई, देखो तो तुम कितनी बड़ी हो, फिर भी रोती हो...जरा देखो मेरी तरफ..."

मैं दूइशेन से लिपट गई और अपना आंसुओं से तर, तपता हुआ चेहरा उसके कंधे के साथ छिपाते हुए बेबस होकर रोती रही। मेरे आंसू रोके नहीं रुकते थे। खुशी के ज्वार में मेरा अंग-अंग टूट रहा था। मुझमें इतनी ताकत नहीं थी कि उस पर काबू पा सकूं।

"कहीं इसका दिमाग तो नहीं चल निकला।" करतनबाई बेचैन हो उठा और नमदे से उठ खड़ा हुआ। "बुढिया मंतर पढ़ो, जल्दी करो, खुदा इसको

सलामत रखे...।"

सभी सहसा भाग-दौड़ करने लगे। साइकाल मंतर पढ़ने और झाड़-फूंक करने लगी, उसने मेरे मुंह पर गर्म और ठंडे पानी के छींटे मारे, मुझे भाप दी और खुद मेरे साथ मिलकर रोने लगी।

काश कि उन्हें मालूम होता कि परम सुख के कारण मेरा "दिमाग चल निकला है," मुझमें इतनी ताकत नहीं थी कि मैं इस बारे में उन्हें बता पाती।

जब तक मेरा चित शांत नहीं हुआ और मैं सो नहीं पाई, दूइशेन मेरे पास बैठा रहा और धीरे-धीरे अपने शीतल हाथ से मेरे तपे हुए माथे को सहलाता रहा।

...जाड़ा अपने खेमे उखाड़कर दर्रे के पार चला गया। वसंत मानो अपने नीले झुंड में दौड़ता हुआ आ गया। मैदानों की पिघलती, गीली जमीन पर से गर्म, नम हवाएं—अदृश्य, छलछलाती नदी की तरह बहने लगीं। इन हवाओं में पृथ्वी, वसंत और ताजा दूध की महक बसी थी। पहाड़ों पर बर्फ टूटने लगी। बर्फ के ढेर पिघलने लगे, झरने शुरू में कल-कल ध्वनि करने लगे और फिर एक-दूसरे में मिलते हुए तूफानी, प्रलयकारी नदियों का रूप लेकर बड़े गर्जन-तर्जन के साथ क्षत-विक्षत दर्रों में से बहने लगे।

शायद यह मेरे यौवन का पहला वसंत था। जो भी हो, यह वसंत मुझे सबसे सुंदर लगा, पहले सभी वसंतों की तुलना में सबसे बढ़-चढ़कर। उस टीले पर से, जहां हमारा स्कूल था, वसंत का अद्‌भुत संसार आंखों के सामने खुलता था। पृथ्वी मानो अपनी बाहें फैलाए पहाड़ों पर से धूप में चमकती और हल्की-हल्की मायावी धुंध में लिपटी-सी स्तेपी की ओर भाग चली और जैसे कि रुकना उसके बस की बात नहीं थी। दूर, बहुत दूर, बर्फ पिघलने पर झीलों की नीलिमा निखर आई थी और इसी तरह बहुत दूरी पर घोड़ों के झुंड के झुंड जोर-जोर से हिनहिनाने लगे थे। दूर, बहुत दूर, सारसों के काफिले अपने परों पर मानो सफेद बादलों के टुकड़े उठाए उड़ चले थे। ये सारस कहां से आए थे और किस तरह इतनी हृदयविदारक, इतनी ऊंची आवाज में पुकार रहे थे ?...

वसंत के आगमन पर हम सभी छात्र खूब हंसने-चहकने लगे, एक-दूसरे के पीछे दौड़ते और पढ़ाई के बाद स्कूल से गांव तक हंसते-खेलते, शोर मचाते और भागते चले जाते थे। चाची को यह अच्छा नहीं लगता था, वह सचमुच डाह करती थी और मुझे बुरा-भला कहने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देती थी।

"कलमुंही, हर वक्त क्या उछलती-कूदती रहती है ? तुझे इसकी जरा भी फिक्र नहीं कि अभी तक कुंआरी बैठी है। भले लोगों के घरों में तेरी उम्र की लड़कियों के ब्याह हो चुके हैं, घर में समधी और रिश्तेदार बढ़ गए हैं और तू अपने इस स्कूल में ही मस्त है...पर खैर, मैं तेरी अक्ल ठिकाने करूंगी..."

सच कहूं तो चाची की इन धमकियों का मेरे दिल पर कोई खास असर नहीं होता था : यह कोई नई बात नहीं थी, वह हमेशा इसी तरह कोसती रहती थी। यह कहना कि मैं अभी तक कुंआरी बैठी हूं, मेरे साथ अन्याय करना था। सच तो यह है कि इसी वसंत में मेरा कद कुछ बढ़ गया था।

'तू तो अभी भी उलझे बालों वाली भोली-भाली छोकरी है," दूइशेन हंसकर कहता, "और लगता है कि तेरे बाल भी कत्थई रंग के हैं !"

उसके शब्दों से मैं बिल्कुल नाराज नहीं होती थी। "मैं जरूर उलझे बालों वाली हूं," मैं सोचती थी, "लेकिन मेरे बाल एकदम कत्थई रंग के नहीं हैं ! पर जब मैं सचमुच बड़ी हो जाऊंगी, सचमुच दुलहन बन जाऊंगी, तो क्या मैं ऐसी ही रहूंगी जैसी अब हूं ? तब मेरी चाची को पता चलेगा कि मैं कितनी खूबसूरत हूं। दूइशेन कहता है कि मेरी आंखें तारों की तरह चमकती हैं और मेरा चेहरा बड़ा निश्छल-निष्कपट है।"

एक दिन मैं स्कूल से भागती हुई घर आई। आंगन में खंभों के साथ दो अपरिचित-से घोड़े बंधे थे। उनके जीनों और साजों को देखते हुए जान पड़ता था कि उनके मालिक पहाड़ पर से आए हैं। कभी-कभी वे बाजार से आते हुए या पनचक्की की ओर जाते हुए रास्ते में हमसे मिलने आ जाया करते थे।

देहरी से ही चाची की बनावटी, कानों के पर्दे फाड़नेवाली ऊंची हंसी सुनाई दे रही थी। "बहुत उदास नहीं होओ, मेरे लाडले, तुम नुकसान में नहीं रहोगे। जब कबूतरी हाथ में आएगी, तो मेरे गुण गाओगे। खी-खी-खी !" जवाब में हां में हां मिलाती हुई, जोरों से हंसने की आवाजें आ रही थीं, पर ज्यों ही मैंने देहरी पर कदम रखा, सभी चुप हो गए। घर के अंदर, नमदे पर बिछे दस्तरखान पर, एक ठूंठ की भांति लाल-लाल चेहरे वाला एक भारी-भरकम आदमी बैठा था। वह लोमड़ी की खाल की टोपी पहने था जो उसके पसीने से तर माथे को नीचे तक ढके थी। उसने टोपी के नीचे से, कनखियों से मेरी ओर देखा और खांसते हुए अपनी पलकें झुका लीं।

"बेटी लौट आई हो, आओ, मेरी लाडली अंदर आ जाओ," अपनी बत्तीसी निपोरते हुए चाची ने बड़े दुलार से मेरा स्वागत किया।

चाचा जी और एक अन्य अपरिचित व्यक्ति नमदे के एक सिरे पर अलग

बैठे थे। वे ताश खेल रहे थे, वोदका पी रहे थे और बेशबार्माक* खा रहे थे। दोनों नशे में थे और इसलिए जब वे पत्ते फेंकते, तो उनके सिर बड़े अजीब ढंग से हिलते थे।

सुरमई रंग की हमारी बिल्ली चुपके से दस्तरखान के निकट आई, तो लाल चेहरे वाले आदमी ने अपनी हड्डीली उंगलियों से बिल्ली के सिर पर इतने जोर से घूंसा मारा कि बिल्ली बड़े जोर से चीखी और एक ओर को उछलकर कोने में जा छिपी। वह दर्द से छटपटाई। मेरा मन हुआ कि वहां से चली जाऊं, लेकिन मैं नहीं जानती थी कि कैसे जाऊं। चाची ने स्थिति संभाली–

बेटी, वह बोली–"देगची में खाना रखा है, अभी खा लो, बाद में ठंडा हो जाएगा।"

मैं चली गई, पर चाची का ऐसा व्यवहार मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। दिल ही दिल में मैं कुछ चौकस हो गई और परेशान भी हुई।

कोई दो घंटे बाद दोनों मेहमान घोड़ों पर सवार होकर पहाड़ों की ओर चले गए। और चाची ने उसी वक्त मुझे फिर रोज की तरह फटकारना शुरू कर दिया; इससे मेरा मन आश्वस्त हुआ। इसका मतलब था कि चाची नशे में ही इतनी मेहरबान थी–मैंने मन ही मन निश्चय किया।

इसके कुछ दिन बाद बुढ़िया साइकाल हमारे घर आई। मैं उस वक्त आंगन में थी, पर जब उसने यह कहा कि "खुदा बचाए, तुम तो बच्ची को जिंदा दफना रही हो !" तो ये शब्द मेरे कान में पड़ गए।

एक दूसरे की बात काटती हुई, चाची और साइकाल बड़ी गर्मागर्मी से किसी विषय पर झगड़ती रहीं और उसके बाद बुढ़िया नाराज होकर, भुनभुनाती हुई वहां से चली गई। जाते-जाते उसने मेरी ओर बड़ी क्षुब्ध और दयालु आंखों से देखा और चुपचाप चली गई। मैं व्याकुल हो उठी। उसने क्यों मेरी ओर इस तरह देखा है, मैंने कौन-सी ऐसी भूल की है, जिससे वह नाराज हो गई है ?

अगले दिन स्कूल में इस बात की तरफ मेरा फौरन ध्यान गया कि दूइशेन बड़ा उदास-सा बैठा था। वह बड़ी कोशिश कर रहा था कि उसके चेहरे का भाव प्रगट न होने पाए, पर किसी कारण वह बहुत ही खोया-खोया-सा था और मुझसे

---

* बेशबार्माक–भेड़ के गोश्त का व्यंजन। –सं.

आंखें चुरा रहा था। पाठ के बाद जब हम बच्चों की टोली स्कूल से निकली, तो दूइशेन ने मुझे पुकारा—

"जरा ठहरो, आल्तीनाई," मास्टर जी मेरे पास आए, एकटक मेरी आंखों में देखते रहे, फिर मेरे कंधे पर हाथ रखकर बोले—"तुम अपने घर नहीं जाना, समझीं, आल्तीनाई ?"

मैं सिर से पांव तक सिहर उठी और केवल तभी मेरी समझ में आया कि चाची मेरे साथ क्या करने जा रही थी।

"मैं खुद जवाब दे लूंगा," दूइशेन बोला, "फिलहाल तुम हमारे यहां रहोगी। और बाहर जाओ भी तो मुझसे बहुत दूर नहीं रहना।"

शायद मेरे चेहरे का रंग उड़ गया था। दूइशेन ने मुझे ठुड्डी से पकड़कर मेरी आंखों में देखा और सदा की भांति मुस्कराकर बोला—

"डरो मत, आल्तीनाई ! मैं तुम्हारे साथ हूं। तुम्हें किसी बात का डर नहीं होना चाहिए। तुम पढ़ती जाओ, पहले की तरह स्कूल आती रहो और किसी बात की चिंता नहीं करो...मैं जानता हूं कि तुम बड़ी डरपोक लड़की हो...हां, याद आया, कब से मैं तुम्हें एक बात बताना चाहता था," दूइशेन किसी दिलचस्प बात को याद करके हंस पड़ा। "तुम्हें याद है; उस दिन...दादा तड़के ही उठकर कहीं चले गए थे। तुम क्या सोचती हो, कहां गए होंगे ? वह बुढ़िया जादूगरनी को बुला लाए, जायनाक की बुढ़िया को। मैंने पूछा, "इसे क्यों लाए हैं ?"—"यह मंतर पढ़ेगी। आल्तीनाई का दिमाग जो डर के कारण चल निकला है।" मैंने कहा कि "निकालिए इसे घर से, इससे आप बिना एक भेड़ दिए अपना पिंड नहीं छुड़ा पाएंगे। और हम लोग इतने धनी नहीं हैं। घोड़ा भी हम भेंट नहीं कर सकते—उसे भेड़ियों की नजर कर चुके हैं...तुम उस वक्त सो रही थीं। इस तरह मैंने उस जादूगरनी को बाहर निकाला। इसके बाद दादा पूरा एक हफ्ता मेरे साथ नहीं बोले, मुझसे रूठे रहे। कहते थे कि तूने मुझ बूढ़े की हेठी करवा दी। कुछ भी हो बूढ़ा और बुढ़िया दोनों बड़े अच्छे हैं, इतने नेकदिल लोग विरले ही मिलते हैं। चलो, अब घर चलें, आल्तीनाई, चलो..."

मैंने बहुतेरी कोशिश की कि अपने को काबू में रखूं और व्यर्थ मास्टर जी को परेशान न करूं, पर मन ही मन मैं बहुत व्याकुल हो उठी थी। वास्तव में मेरी चाची किसी भी वक्त वहां आ सकती थी और मुझे जबरदस्ती घसीटकर घर ले जा सकती थी, और वहां वे लोग जैसा चाहते, मेरे साथ सुलूक कर सकते थे, गांव भर में कोई उन्हें रोकनेवाला नहीं था। मैं क्षण भर के लिए भी नहीं सो पाई, मुझे सारा वक्त इस बात का डर लगा रहा कि कोई मुसीबत आनेवाली है।

निश्चय ही; दूइशेन मेरी स्थिति को समझता था। और शायद इसीलिए मेरा मन बहलाने के लिए वह दूसरे दिन स्कूल में छोटे-छोटे दो पेड़ ले आया। पाठ के बाद वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे एक ओर ले गया।

"अब, आल्तीनाई, हम एक काम करेंगे," उसने बड़े रहस्यपूर्ण ढंग से मुस्कुराते हुए कहा। "ये छोटे-छोटे पोपलार के पेड़ मैं तुम्हारे लिए लाया हूं। हम इन्हें यहां रोपेंगे। जब ये बड़े होंगे, मजबूत हो जाएंगे। तो तुम भी बड़ी हो जाओगी, तुम भी कली की तरह खिल उठोगी और एक अच्छी इनसान बनोगी। तुम नेकदिल हो और तुममें ज्ञान की भूख है। मुझे हमेशा लगता है कि तुम एक दिन बहुत बड़ी विद्वान बनोगी। मुझे इसका पूरा यकीन है, तुम्हारे भाग्य में यही लिखा है। इस वक्त तुम छोटी-सी लड़की हो, वैसी ही जैसे ये पोपलार के छोटे-छोटे पेड़ हैं। तो आओ आल्तीनाई, इन्हें अपने हाथ से रोपें। मेरी कामना है कि शिक्षा का मार्ग ही तुम्हारा सुख-मार्ग हो, मेरी आंखों के तारे..."

पेड़ इतने ही ऊंचे रहे होंगे, जितनी मैं थी, छोटे-छोटे पोपलार के पेड़, जिनके तने हल्के नीलगूं रंग के थे। जब हमने स्कूल के निकट ही उन्हें रोप दिया तो पहाड़ की ओर से हवा का झोंका आया और पहली बार उनके छोटे-छोटे पत्ते कांप उठे। लगता था जैसे पेड़ों में जिंदगी की सांस चलने लगी हो। पत्ते कांप-कांप जाते, पोपलार के नन्हें पेड़ हिलते, हवा में झूमते...

"देखो तो, कितने सुंदर हैं !" दूइशेन ने पीछे हटते हुए हंसकर कहा। "अब उस झरने से यहां तक नाली खोदेंगे। फिर तुम देखोगी, ये पेड़ कितने सुंदर निकलेंगे। वे इस टीले पर साथ-साथ इस तरह खड़े होंगे, जैसे दो भाई हों। और सभी को दिखाई देंगे। और नेकदिल लोग इन्हें देखकर खुश हुआ करेंगे। तब आल्तीनाई, जिंदगी का रूप कुछ दूसरा ही होगा। भविष्य इससे बहुत बेहतर होगा..."

दूइशेन के इस सौजन्य से मैं कितनी भाव-विह्वल हुई, यह बताने के लिए मेरे पास अब भी शब्द नहीं हैं। उस समय मैं वहां खड़ी उसकी ओर देखती ही रह गई। मैं यों देखे जा रही थी, मानो पहली बार मुझे उसका चेहरा नजर आ रहा हो कि वह कितना सुंदर है, कितना कांतिपूर्ण है, उसकी आंखों में कितनी विनम्रता, कितनी दयालुता है, मानो मुझे कभी मालूम ही न हुआ हो कि काम करते हुए उसके हाथ कितने मजबूत, कितने फुरतीले होते हैं, रोम-रोम पुलकित करनेवाली उसकी मुस्कान कितनी निश्छल होती है। तब एक नई, अपरिचित भावना गहरी उत्तेजना के साथ मेरे दिल में उठी, उस अज्ञात संसार से, जो मेरे

लिए अभी तक रहस्यपूर्ण बना हुआ था। और अंदर ही अंदर मैं यह कहने के लिए मचल उठी : "मास्टर जी, धन्यवाद आपको, इस बात के लिए धन्यवाद कि आप ऐसे नेक इनसान हैं...मैं आपको हृदय से लगा लेना चाहती हूं !" पर मैं साहस नहीं कर पाई, लज्जावश ये शब्द मुंह पर नहीं ला पाई। शायद, इन्हें कहना जरूरी था...

परंतु उस समय हम निर्मल आकाश के नीचे, पहाड़ की ढलानों के बीच, जिन पर वसंत की हरी-हरी चादर बिछी थी, अपने विचारों में खोए हुए टीले पर खड़े थे। उस घड़ी मैं उस खतरे को बिलकुल भूल गई जो मेरे सिर पर मंडरा रहा था। मैंने नहीं सोचा कि कल मेरे साथ क्या बीतेगी, मुझे इस बात का ध्यान नहीं आया कि आज, दूसरे दिन भी चाची मुझे ढूंढने क्यों नहीं आई, या उन लोगों ने मुझे बिलकुल भुला दिया है, मुझे इस तरह चैन से रहने के लिए छोड़ दिया है ? पर दूइशेन इस बारे में चिंतित था। जब हम गांव की ओर गए तो उसने मुझसे कहा—

"बहुत चिंता नहीं करना, आल्तीनाई, हम कोई न कोई रास्ता ढूंढ निकालेंगे। परसों मैं हलका-केंद्र जाऊंगा। वहां मैं तुम्हारे बारे में बात करूंगा। संभव है कि मैं इस बात में कामयाब हो जाऊं कि वे तुमको पढ़ने के लिए शहर भेज दें। तुम क्या सोचती हो ?"

"जैसा आप कहेंगे, मास्टर जी, मैं वैसा ही करूंगी," मैंने जवाब दिया।

शहर क्या होता है, यह मेरी कल्पना से बाहर था, फिर भी मेरे लिए दूइशेन का कहा काफी था ताकि मैं नए, नागरिक जीवन के सपने देखना शुरू कर दूं। कभी तो मैं उन अज्ञात बातों के कारण शंकित हो उठती जो मेरे सामने आनेवाली थीं, फिर कभी मेरी हिम्मत बंध जाती, एक शब्द में कहूं तो शहर मेरे दिमाग पर छाया हुआ था।

अगले दिन स्कूल में भी मैं उसी के बारे में सोच रही थी। मैं सोच रही थी कि शहर में मैं किसके पास रहूंगी। यदि कोई आश्रय देगा, तो मैं उसके लिए जलावन की लकड़ी काट दिया करूंगी, पानी ले आया करूंगी, कपड़े धो दिया करूंगी, सब काम जो भी वे कहेंगे, कर दिया करूंगी। मैं इस तरह कक्षा में बैठी दिवास्वप्न देख रही थी कि सहसा चौंक उठी—हमारे जीर्ण-शीर्ण स्कूल की दीवारों के पीछे से घोड़ों की टापें सुनाई दीं। वे इतने अप्रत्याशित वहां प्रकट हुए थे और ऐसे सरपट दौड़े आ रहे थे कि लगता था जैसे वे हमारे स्कूल को अभी तोड़-फोड़ डालेंगे। हम सभी सावधान हो गए। दूइशेन ने झट से कहा—

"तुम अपना काम करो, उधर कोई ध्यान न दो।"

उसी क्षण फटाक से हमारे स्कूल का दरवाजा खुला। देहरी पर चाची खड़ी थी। एक द्वेषपूर्ण, ललकारती हुई-सी मुस्कुराहट उसके चेहरे पर झलक रही थी। दूइशेन दरवाजे की ओर गया—

"आप किस काम से यहां आई हैं ?"

"उस काम से, जिससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं है। अपनी लड़की का ब्याह करूंगी। ए, बेघर लड़की !" और चाची मेरी ओर लपकी, लेकिन दूइशेन ने उसका रास्ता रोक दिया।

"यहां केवल स्कूल छात्राएं हैं और ब्याह के लायक कोई लड़की नहीं है," उसने दृढ़ता और धैर्य से कहा।

"यह भी देख लेंगे ! अरे, मर्द लोगों, सुनो, इस कुतिया को पकड़ लो और घसीट ले चलो !" चाची ने एक आदमी की ओर हाथ हिलाकर कहा। यह वही आदमी था, जिसने लोमड़ी की खाल की टोपी पहन रखी थी, वही लालमुंहा ठूंठ। उसके पीछे-पीछे दो अन्य आदमी घोड़ों पर से उतरकर तेजी से हमारी ओर आए। उनके हाथों में लाठियां थीं।

दूइशेन अपनी जगह से नहीं हिला।

"बदजात कुत्ते, दूसरों की लड़कियों को यहां रखे हुए है, जैसे तेरी बीवियां हों ? हट सामने से !" और लालमुंहा भालू की तरह झपटा।

दूइशेन ने दरवाजे के खंभे को पकड़कर उसका रास्ता रोक दिया।

"तुम अंदर नहीं आ सकते, यह स्कूल है !" उसने कहा।

"मैंने कहा था, न !" चाची चिल्लाई, "यह खुद मुद्दत से लड़की के साथ गुलछर्रे उड़ा रहा है, मुफ्त में इस कुतिया को फांस लिया है !"

"ठेंगे से ! मेरी जूती परवाह करती है तेरे इस स्कूल की !" लालमुंहा अपना कोड़ा उठाते हुए गरज उठा, पर दूइशेन ने पहले वार करते हुए उसके पेट में जोर से लात जमाई और वह आदमी हाय-हाय करता लड़खड़ाकर गिर पड़ा। उसी वक्त हाथों में लाठियां लिए दोनों आदमी दूइशेन पर टूट पड़े। बच्चे रोते-चिल्लाते मेरे पास आ गए। उन लोगों के प्रहारों के कारण दरवाजा टुकड़े-टकड़े हो गया। छोटे बच्चों को अपने पीछे लिए हुए मैं मार-पीट करने वालों की ओर लपकी।

"मास्टर जी को छोड़ दो ! उन्हें नहीं मारो ! लो, यह रही मैं, मास्टर जी को नहीं मारो !"

दूइशेन खून से लथपथ हो रहा था, वह बड़ा भयानक और कठोर नजर आ रहा था। उसने जमीन पर से दरवाजे का तख्ता उठा लिया और वह तख्ता

हिलाते हुए जोर से चिल्लाया–

"भाग जाओ बच्चो, गांव भाग जाओ ! तुम भी भाग जाओ, आल्तीनाई !" उसकी आवाज चीख-सी बनकर टूट गई। उन्होंने दूइशेन का बाजू तोड़ दिया था। हाथ को छाती के साथ लगाए, दूइशेन पीछे हट गया, पर वे लोग मतवाले, सिरफिरे सांडों की भांति दहाड़ते हुए निस्सहाय दूइशेन पर टूट पड़े।

"मारो, मारो, सिर पर मारो, जान से मार डालो !"

उसी वक्त लालमुंहा और क्रोध से उन्मत्त चाची मेरे पास लपककर आए। उन्होंने मेरी चोटी पकड़ी और घसीटते हुए आंगन में ले गए। मैं एक ओर को लपकी और क्षण भर के लिए मुझे त्रस्त बच्चों की चीख-पुकार के बीच, लहू से लाल हो रही दीवार के पास दूइशेन की झलक मिली।

"मास्टर जी !"

लेकिन दूइशेन किसी भांति भी मदद नहीं कर सकता था। वह अभी भी खड़ा था और घूंसों के बीच एक शराबी की भांति लड़खड़ा रहा था; जब भी वह सिर उठाने की कोशिश करता, तो वे उसे तड़ातड़ पीटने लगते। मुझे जमीन पर पटक दिया गया, रस्सी से मेरे हाथ बांध दिए गए। उसी वक्त दूइशेन जमीन पर गिर पड़ा।

"मास्टर जी !"

पर मेरा मुंह बंद कर दिया गया और मुझे उठाकर जीन पर डाल दिया गया। लालमुंहा पहले से घोड़े पर बैठा था। उसने मुझे अपनी बांहों और छाती से दबा दिया। दूसरे दोनों आदमी भी घोड़ों पर सवार हो गए। चाची साथ-साथ भागती मेरे सिर पर घूंसे मारती रही।

"तो मिल गया मजा ! ऐसे हुई मेरे घर से तेरी विदाई। और तेरे मास्टर का किस्सा खत्म..."

पर किस्सा अभी खत्म नहीं हुआ था। सहसा पीछे से भयानक और हताशा-भरी चीख सुनाई दी–

"आल्ती-ना-ई !"

मैंने बड़ी कठिनाई से घोड़े की पीठ पर झूलता हुआ अपना सिर ऊपर उठाया और पीछे की ओर देखा। दूइशेन हमारे पीछे-पीछे दौड़ता चला आ रहा था। मार-पीट से अधमरा, खून से लथपथ। उसने हाथ में पत्थर उठा रखा था। और उसके पीछे-पीछे हमारे स्कूल के सारे बच्चे रोते-बिलखते दौड़े चले आ रहे थे।

"ठहरो, हैवानो ! ठहरो ! छोड़ दो इसे, छोड़ दो ! आल्तीनाई !" हमारे

निकट पहुंचता हुआ वह चिल्लाया।

जालिम जरा रुक गए। दोनों घुड़सवार दूइशेन के इर्द-गिर्द घूमने लगे। अपने टूटे हुए बाजू की आस्तीन दांतों में दबाए दूइशेन ने निशाना बांधकर पत्थर फेंका, मगर वह चूक गया। तब घोड़ों पर बैठे-बैठे ही उन्होंने दो प्रहारों से दूइशेन को पानी से भरे गढ़े में फेंक दिया। मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मैं इतना ही देख पाई कि हमारे स्कूल के बच्चे भागते हुए मास्टर जी के पास गए और भय के मारे वहीं के वहीं खड़े रह गए।

मुझे याद नहीं कि वे लोग मुझे कैसे और कहां ले गए। मैंने जब आंखें खोलीं, तो मैं एक तंबू में थी। तंबू के ऊपरी खुले भाग में से शांत और निश्चिंत तारे झांक रहे थे। नजदीक ही कहीं से किसी नदी की कलकल ध्वनि आ रही थी। पड़ोस में ही भेड़ों के झुंड की रखवाली करने वाले चरवाहों की आवाजें सुनाई दे रही थीं। बुझी हुई अंगीठी के पास लकड़ी की तरह सूखी, म्लान चेहरे वाली एक बूढ़ी औरत बैठी थी। मैंने मुंह फेर लिया...काश कि मैं अपनी नजर से उस आदमी की जान ले लेती !

"कलमुंही, इसे उठाओ !" लाल चेहरे वाले ने हुक्म दिया।

काली-सी औरत मेरे पास आई, अपने कड़े, खुरदुरे हाथ से उसने मेरा कंधा हिलाया।

"अपनी सौत को सही रास्ते पर लाओ। इसे समझाओ-बुझाओ, अगर नहीं मानेगी, तो भी मैं अपनी ही करूंगा।"

वह तंबू से बाहर चला गया। काली-सी औरत अपनी जगह से नहीं हिली और चुप रही। शायद वह गूंगी हो ? ठंडी राख जैसी उसकी बुझी हुई आंखें कुछ भी अभिव्यक्त न करते हुए देख रही थीं। ऐसे कुत्ते भी होते हैं जिनकी पिल्लों की उम्र में ही कसकर पिटाई होने लगती है। दुष्ट लोग हाथ में आ जानेवाली हर चीज से उनका सिर धुनते रहते हैं और उन्हें इसका अभ्यस्त बना देते हैं। मगर उनकी आंखों में ऐसी मायूसी और जड़ता आ जाती है कि उन्हें देखकर डर लगता है। काली औरत की मुर्दा-सी आंखों को देखते हुए मुझे लगा कि मैं जिंदा नहीं हूं, बल्कि कब्र में हूं, और अगर नदी का शोर न सुनाई दे रहा होता, तो मैं ऐसा विश्वास भी कर लेती। नदी का पानी छप-छप करता, शोर मचाता अपने पहाड़ी रास्ते पर चला जा रहा था। वह आजाद जो था...

हजार लानत है, चाची, तुम पर, —नीच कहीं की !...मेरे आंसुओं में, मेरे खून में तुम डूब मरो !... उस रात, पंद्रह साल की उम्र में, मैं औरत बनी... उम्र में मैं उस अत्याचारी के बेटे-बेटियों से भी छोटी थी।...

तीसरी रात मैंने निश्चय कर लिया कि जैसे-तैसे यहां से भाग जाऊंगी। भले ही रास्ते में मर जाऊं, भले ही मेरा पीछा करनेवाले मुझे आ पकड़ें, पर मैं आखिरी दम तक उसी तरह लड़ती रहूंगी जिस तरह मेरा अध्यापक दूइशेन लड़ता रहा था।

दबे पांव मैं अंधेरे में दरवाजे की ओर गई, उसे टटोलकर देखा। घोड़े के बालों की बनी रस्सियों की गांठें लगाकर उसे मजबूती से बंद कर दिया गया था। गांठें इतनी जटिल और पक्की थीं कि उन्हें अंधेरे में खोलना नामुमकिन था। तब मैंने तंबू के नीचे से रेंगकर निकल जाने की कोशिश की। पूरा जोर लगाया, जितना जूझ सकती थी जूझी, पर तंबू हिला तक नहीं, बाहर से वह रस्सों के सहारे बड़ी मजबूती से जमीन के साथ बंधा था।

अब एक ही रास्ता बच रहा था कि कोई तेज-सी चीज ढूंढूं और उससे दरवाजे पर लगी रस्सी को काट डालूं। मैंने चारों ओर तलाश की, मगर लकड़ी के एक छोटे-से खूंटे के सिवा कुछ भी मेरे हाथ नहीं लगा। हताश होकर मैंने उसी से तंबू के नीचे की जमीन खोदनी शुरू कर दी। कामयाबी की उम्मीद बहुत कम थी। पर मैंने इसकी परवाह नहीं की, मन में एक ही असाध्य विचार चक्कर काट रहा था, या तो यहां से निकल भागूंगी या मर जाऊंगी, मगर उसकी नाक की सुड़सुड़ और भयानक खर्राटे नहीं सुनूंगी, जब तक जान में जान है, यहां नहीं रहूंगी, मर जाऊंगी—आजाद होकर, लड़ते हुए मर जाऊंगी, मगर हार नहीं मानूंगी !

तोकोल यानी दूसरी बीवी। मुझे इस शब्द से कितनी घृणा है ! किस व्यक्ति ने, किस बुरे जमाने में इसे गढ़ा था ? किसी स्त्री के भाग्य में इससे अधिक बुरा, इससे अधिक दुखद क्या होगा कि वह एक विवश दूसरी बीवी बने, शरीर और आत्मा से गुलाम बने ! जागो, अभागी स्त्रियो, अपनी कब्रों में से उठो, पद-दलित, अपमानित, मानवीय गरिमा से वंचित स्त्रियो, कमर कसकर खड़ी हो जाओ ! तिल-तिल कर मरनेवाली शहीदो, उठो, ताकि उस पुराने जमाने का अंधकार भी कांप उठे ! यह मैं कह रही हूं, जो दूसरी बीवी के दुर्भाग्य को लांघकर निकल जानेवाली तुम सब में से पहली और आखिरी हूं !

उस रात मैं नहीं जानती थी कि इन शब्दों को कहना मेरे भाग्य में बदा था। जड़प्राय मस्तिष्क से, पागलों की तरह मैं तंबू के नीचे की जमीन खोदती रही। जमीन खोदती रही। जमीन पथरीली निकली, खूंटे से मैं उसे खोद नहीं पा रही थी; मैं उंगलियों के नाखूनों से मिट्टी को खोदने लगी। हाथ लहू-लुहान हो गए, पर मैं फिर भी सफल नहीं हो पाई—जब तंबू के नीचे हाथ निकालने भर

की जगह निकल आई, तो पौ फटने लगी। कुत्ते भूंकने लगे, पास-पड़ोस के लोग जाग उठे। घोड़ों का झुंड टापों की आवाज करता हुआ पानी पीने के लिए निकल गया। ऊंघती भेड़ों के झुंड सुड़सुड़ाते हुए निकल पड़े। इसके बाद कोई व्यक्ति तंबू के पास आया और बाहर से बंधी रस्सियां खोलकर नमदे उतारने लगा। वह वही गुप-चुप औरत थी।

मैंने अनुमान लगाया कि गांव के ये खानाबदोश लोग किसी दूसरी जगह जाने की तैयारी कर रहे हैं। मुझे याद आया कि पिछले दिन मैंने लोगों को कुछ ऐसी बातें करते सुना था कि सुबह ही यहां से तंबू उखाड़कर शुरू में दर्रे की ओर नई जगह चले जाएंगे और उसके बाद दर्रे के पीछे दूर पहाड़ों में पूरी गर्मी बिताएंगे। मैं पहले से भी अधिक निराश हो उठी, वहां से भागना सौ गुना ज्यादा मुश्किल होगा।

मैं खोदी हुई जगह पर जैसे बैठी थी, वैसे ही बैठी रही, हिली तक नहीं। छिपाने को था ही क्या और छिपाती भी क्यों...उस काली औरत ने तंबू के नीचे खुदी हुई जमीन देखी, पर कुछ नहीं बोली, चुपचाप अपना काम करती रही। लगता था उसको किसी बात से कोई सरोकार नहीं था, जैसे कि जीवन उसमें किसी प्रकार की कोई भावना नहीं जगाता था। यहां तक कि उसने अपने पति को भी नहीं जगाया, नयी जगह पर जाने की तैयारी करने के लिए उससे हाथ बंटाने तक को नहीं कहा। वह कंबलों और पोस्तीनों के नीचे भालू की भांति लेटा हुआ खर्राटे भर रहा था।

सभी नमदे लपेटे जा चुके थे, मैं पिंजरे में बंद पक्षी की भांति ज्यों की त्यों वहीं बैठी रही। मैंने देखा कि नदी के निकट लोग बैलों और घोड़ों पर सामान लादने लगे हैं। फिर वहां पर मुझे तीन घुड़सवार कहीं से आते हुए दिखाई दिए। घुड़सवारों ने उन लोगों से कुछ पूछा और हमारी दिशा में आने लगे। शुरू में मैंने सोचा कि ये लोगों को सफर के लिए इकट्ठा करने के उद्देश्य से आ रहे हैं। मगर जब मैंने जरा ध्यान से देखा तो आंखें फाड़-फाड़कर देखती रह गई, मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना न था। दूइशेन आ रहा था और उसके साथ दो अन्य आदमी थे जो मिलीशिया की टोपियां पहने थे, और उनके ग्रेटकोटों पर लाल रंग की पट्टियां लगी थीं।

मैं अधमरी-सी वहीं की वहीं बैठी रही, चिल्ला तक नहीं सकी। मेरा दिल खुशी से नाच उठा—मेरे मास्टर जी जिंदा थे !—उसी समय फिर दिल धक से बैठ गया, मेरी तो इज्जत लूटी जा चुकी है, मेरा तो पतन हो चुका है...

दूइशेन के सिर पर पट्टिया बंधी थीं और जख्मी बाजू पट्टी में लटक रहा था। वह घोड़े पर से कूदा, उसने तंबू के दरवाजे को लात मारकर खोल दिया, भागकर अंदर आया और लालमुंहे के ऊपर से कंबल उतार फेंका।

"उठो !" उसने गरजकर कहा।

आंखें मलते हुए उसने सिर उठाया और वह दूइशेन पर झपटना ही चाहता था कि मिलीशियामैनों की पिस्तौलों का मुंह अपनी ओर देखकर फौरन सिर झुका लिया। दूइशेन ने उसे कालर से पकड़ लिया और झटके से उसका चेहरा अपने पास ले आया।

'जलील कुत्ते !" दूइशेन ने फुसफुसाकर कहा। गुस्से से उसके होंठ पीले पड़ गए थे। "अब ठीक जगह पर पहुंचेगा ! चल हमारे साथ !"

लालमुंहा सिर झुकाए हुए चलने ही वाला था कि दूइशेन ने उसे कंधे से पकड़ लिया और उसकी आंखों में आंखें डालकर गुस्से से कांपती आवाज में बोला—

"तू सोचता है कि तूने उसे मिट्टी में मिला दिया है, उसकी जिंदगी बरबाद कर दी है...नहीं, लद चुके हैं तेरे दिन, अब उसका जमाना है। अब तू अपना काम तमाम समझ !"

लालमुंहे को बूट पहनने दिए गए, फिर उसके हाथ बांधकर उसे घोड़े पर बिठा दिया गया। मिलीशियामैन घोड़े की लगाम पकड़कर उसे आगे-आगे ले चला, दूसरा घोड़े पर सवार होकर उसके पीछे-पीछे जाने लगा। मैं दूइशेन के घोड़े पर बैठ गई और वह घोड़े के साथ-साथ चलने लगा।

जब हम रवाना हुए, तो पीछे से किसी की भयंकर, अमानुषिक चीख सुनाई दी—वह काली औरत हमारे पीछे-पीछे दौड़ती हुई चिल्ला रही थी। वह पागलों की तरह लपककर पति के पास आई और उसने उस पर पत्थर दे मारा जिससे उसकी फर की टोपी नीचे गिर गई।

"हत्यारे, तूने मेरा खून पिया है, मेरी जिंदगी बरबाद की है ! मैं तुझे ऐसे ही नहीं जाने दूंगी !" उसकी हृदय-विदारक आवाज आई।

चालीस साल तक शायद उसने कभी सिर नहीं उठाया होगा। अब, जैसे कि बांध टूट गया था और वह सब, जो उसके दिल में उबलता रहा था, वह सब, जिसने दीमक की तरह उसकी सारी जिंदगी चाट डाली थी, अब फूटकर निकलने लगा था। उसका कर्णभेदी चीत्कार, आहत पक्षी की चीख की भांति घाटी की चट्टानों से टकरा-टकराकर गूंज रहा था। वह भागती हुई कभी एक तरफ आ जाती, कभी दूसरी तरफ, और अपने पति पर, जो कायरों की भांति सिर झुकाए बैठा था, लीद, पत्थर, मिट्टी के ढेले, जो हाथ लगता, उठा-उठाकर फेंकती

और चिल्ला-चिल्लाकर उसे कोसती जा रही थी—

"जहां तेरा पांव पड़े, वहां घास न उगे, तेरी लाश पड़ी सड़ती रहे, तेरी आंखों को कौवे नोचें ! फिर कभी तेरा मुंह न देखूं ! दूर हो मेरी नजरों से ! दूर हो, राक्षस, दूर हो, दूर हो, दूर हो !" उसने चिल्लाकर कहा, फिर चुप हो गई और एक बार जोर से चीखकर वहां से भाग गई। ऐसा लगा मानो वह पीठ पर बिखरे हुए अपने बालों से दूर भाग रही हो। उसके पड़ोसी उसे पकड़ने के लिए घोड़ों पर उसका पीछा करने लगे।

किसी भयंकर दुस्वप्न के बाद जैसे दिमाग में कोलाहल-सा मचा रहता है, मेरी स्थिति भी वैसी ही हो रही थी। बेहद उदास, हताश-सी मैं घोड़े पर बैठी चली जा रही थी। दूइशेन हाथ में लगाम पकड़े, थोड़ा आगे-आगे चल रहा था। वह चुप था, उसका पट्टी बंधा सिर झुका हुआ था।

बहुत देर के बाद जब वह लानत की मारी घाटी पीछे छूट गई और मिलीशियामैन कुछ आगे निकल गए, तो दूइशेन ने घोड़ा रोक दिया और पहली बार बड़ी व्यथित आंखों से मेरी ओर देखा।

"आल्तीनाई, मैं तुम्हें बचा नहीं सका, मुझे माफ कर दो," उसने कहा, "फिर मेरा हाथ पकड़कर अपने गाल के साथ सटाते हुए बोला—"पर अगर तुम माफ भी कर दो, आल्तीनाई, तो भी मैं अपने को जिंदगी भर माफ नहीं करूंगा..."

मैं रो पड़ी और घोड़े के अयालों से चिपट गई। जितनी देर मैं रोती रही, दूइशेन चुपचाप पास खड़ा हुआ मेरे बालों को सहलाता रहा।

"अपने को संभालो, आल्तीनाई," आखिर उसने कहा, "मेरी बात सुनो, आल्तीनाई। तीन दिन पहले मैं हलका-केंद्र गया था। तुम शहर में पढ़ने जाओगी। सुनती हो ?"

जब हम झिलमिलाती, शोर मचाती नदी के पास रुके, तो दूइशेन बोला—

"घोड़े पर से उतर आओ, आल्तीनाई, हाथ-मुंह धो लो।" और जेब में से साबुन का टुकड़ा निकालकर कहने लगा, "लो, आल्तीनाई, अच्छी तरह अपने को साफ कर लो, अगर चाहो, तो मैं एक ओर को हट जाता हूं, घोड़े को घास खिलाता हूं और तुम नदी में नहा लो। सब कुछ भूल जाओ, फिर कभी इन बातों को याद नहीं करना। नहा लो, आल्तीनाई, हल्का महसूस करने लगोगी। ठीक है न ?"

मैंने सिर झुकाकर हामी भरी। और जब दूइशेन घोड़े को अपने पीछे-पीछे चलाता हुआ एक ओर ले गया, तो मैंने कपड़े उतार दिए और धीरे-से पानी में उतर गई। नदी के स्वच्छ तल में पच्चीकारी के काम की तरह सफेद, नीले, हरे और लाल रंग के पत्थर झिलमिला रहे थे। जल की नीलरंजित तेज धारा मेरे टखनों के पास से सरसराती हुई बह रही थी। मैंने अंजुली भर-भरकर अपनी छाती पर छींटे मारे। शीत धाराएं सारे शरीर को छूने लगीं और इन दिनों में पहली बार मैं सहसा हंस दी। कितनी अच्छा था हंसना ! मैंने बार-बार शरीर पर पानी डाला और फिर गहरे जल में घुस गई। पानी की तेज धारा मुझे छिछले जल में वापस धकेल देती। मैं उठ खड़ी होती और फिर उस वेगवती, घरघराती नदी में घुस जाती।

"हे जल-धारा, इन दिनों का सारा मैल, सारी कीच बहा ले जाओ ! मुझे भी उतना ही स्वच्छ कर दो, जितनी तुम स्वयं हो !" मैंने फुसफुसाकर कहा और न जाने क्यों हंसती रही।

जीवन की क्यों ऐसी व्यवस्था नहीं की जा सकती कि लोगों के पद-चिह्न उन चिरस्मरणीय स्थानों पर सदा के लिए अमिट बने रहें, जो उन्हें प्रिय थे ? यदि वह पगडंडी अब मुझे मिल जाए, जिस पर मैं दूइशेन के साथ पहाड़ पर से उतरी थी, यदि वे पद-चिह्न मुझे मिल जाएं, तो मैं धरती पर गिर मास्टर जी के पद-चिह्नों को चूम लूं। वह पगडंडी मेरे जीवन के सभी रास्तों का रास्ता है। जीवन की ओर, नए आत्मविश्वास की ओर, नई आशाओं और आलोक की ओर लौटानेवाला वह दिन, वह पगडंडी, वह रास्ता मुबारक हो...उस घड़ी आकाश में चमकने वाले सूर्य, तुम्हें धन्यवाद, धन्यवाद तुम्हें पृथ्वी !

दो दिन बाद दूइशेन मुझे नगर के लिए विदा करने को स्टेशन पर ले गया।

इन सभी घटनाओं के बाद मैं गांव में नहीं रहना चाहती थी...नए जीवन को नए ही स्थान पर आरंभ करने की जरूरत थी। लोगों को भी मेरा निश्चय ठीक लगा। मुझे विदा करने के लिए साइकाल और करतनबाई आए थे—उन्होंने बड़ी दौड़धूप की, बच्चों की तरह रोए, सफर के लिए मुझे थैले और गठरियां दीं। बहुत-से अन्य लोग भी मुझे विदा करने आए थे, यहां तक कि झगड़ालू सातिमकूल भी आया था। विदा करते समय वह बोला—

"भगवान तुम्हारी रक्षा करे, बेटी, तुम्हारा रास्ता उज्ज्वल हो ! डरना नहीं, घबराना नहीं। अपने अध्यापक दूइशेन का कहा मानोगी, तो तुम्हारा भला ही होगा। क्या कहूं, हम भी कुछ-कुछ समझने लगे हैं..."

हमारे स्कूल के बच्चे देर तक छकड़े के पीछे भागते रहे और देर तक पीछे खड़े हाथ हिलाते रहे।

चमड़े का कोट पहने एक रूसी महिला स्टेशन पर इंतजार कर रही थी।

मुझे और कुछेक अन्य बच्चों को ताशकंद के बाल-गृह में भेज दिया गया।

बाद में कितनी ही बार मैं पोपलार वृक्षों से घिरे, पर्वतों में स्थित इस छोटे-से स्टेशन से गुजरी हूं। मुझे लगता है कि मैं अपना आधा दिल हमेशा के लिए यहीं छोड़ आई हूं।

उस वसंतकालीन झुटपुटे में, सायंकाल की उस अस्थिर रोशनी में ऐसा कुछ अवसाद था, ऐसा कुछ दर्द था, मानो संध्या को हमारी विदाई के बारे में मालूम हो। दूइशेन दृढ़ बना रहा, उसने कड़ा प्रयास किया कि इस बात का पता नहीं चल पाए कि उसका दिल टूक-टूक हो रहा है, पर मैं तो यह जानती थी। इसी भांति मेरे दिल पर जो बीत रही थी, उससे मेरा गला रुंध-रुंध जाता था। दूइशेन एकटक मेरी आंखों की ओर देखता रहा, उसके हाथ मेरे बालों, मेरे चेहरे, यहां तक कि मेरी पोशाक के बटनों को भी सहलाते रहे।

"आल्तीनाई, मैं तुम्हें अपने पास से एक कदम भी दूर न जाने देता," उसने कहा, "पर मैं खुद बहुत पढ़ा-लिखा नहीं हूं। मुझे तुम्हारी शिक्षा में बाधा डालने का कोई अधिकार नहीं है। तुम जाओ, यही बेहतर है...संभव है, तुम सचमुच की अध्यापिका बन जाओ, तब हमारे स्कूल को याद किया करोगी और हां, संभव है, कि हंसा भी करोगी...ऐसा ही हो, हां, ऐसा ही हो..."

दूर घाटी में गूंजती हुई रेलगाड़ी के इंजन की सीटी सुनाई दी और रेलगाड़ी की बत्तियां नजर आने लगीं। स्टेशन पर लोगों में हलचल हुई।

"अब तुम चली जाओगी," मेरे हाथ को जोर से दबाते हुए दूइशेन ने कांपती आवाज में कहा, "खुश रहो, आल्तीनाई। मुख्य बात यही है कि पढ़ो, खूब पढ़ो..."

मैं कुछ भी उत्तर नहीं दे पाई। आंसुओं के कारण मेरा गला रुंध रहा था।

"रोओ नहीं, आल्तीनाई," दूइशेन ने मेरे आंसू पोंछे। और सहसा उसे कोई बात याद आई—"और वे पोपलार के पेड़ जो हमने मिलकर रोपे थे, मैं खुद उनकी देखभाल करूंगा। और जब तुम बड़ी हो जाओगी और लौटकर आओगी तो देखोगी कि वे कितने सुंदर हो गए होंगे।"

इतने में गाड़ी आ गई। गाड़ी के डिब्बे झनझनाते, शोर मचाते हुए आकर खड़े हो गए।

"आओ, हम विदा लें !" दूइशेन ने मुझे बांहों में भरकर मेरा माथा चूम लिया। "विदा, आल्तीनाई, शुभ-यात्रा, विदा प्यारी...डरना-घबराना नहीं, हिम्मत से काम लेना।"

पायदान पर से मैंने मुड़कर देखा और वह दृश्य मुझे भुलाए नहीं भूलता :

दूइशेन खड़ा था—उसका टूटा हुआ बाजू पट्टी में लटक रहा था, उसकी आंखें डबडबा आई थीं ! अचानक वह आगे की ओर बढ़ा जैसे मुझे छूना चाहता हो, पर उसी क्षण गाड़ी चलने लगी।

"विदा, आल्तीनाई, विदा मेरी आंखों के तारे !" उसने चिल्लाकर कहा।

"विदा, मास्टर जी, विदा, मेरे प्यारे मास्टर जी !"

दूइशेन डिब्बे के साथ-साथ भागा, थोड़ी देर में पीछे रह गया और फिर एक बार तेजी से भागकर आगे आया।

"आ-ल्ती-नाई !" उसने चिल्लाकर कहा। उसने यों मेरा नाम पुकारा, मानो मुझे कुछ बताना भूल गया हो और फिर जैसे उसे याद आ गया हो कि अब अवसर हाथ से निकल चुका है...आज भी मेरे कानों में उसकी आवाज गूंज रही है जो सीधी उसके दिल से, उसकी आत्मा की गहराइयों से निकली थी...

गाड़ी ने सुरंग पार की, फिर सीधी लाइन पर बढ़ने लगी। उसकी रफ्तार तेज होती जा रही थी और वह एक पक्षी की भांति कजाखस्तान की स्तेपी के समतल मैदानों में से मुझे नए जीवन की ओर ले चली...

विदा, मास्टर जी, विदा मेरे बचपन, विदा मेरे प्रथम प्रेम, जिसे मैं कभी होंठों पर नहीं ला पाई...

मैंने एक विशाल नगर में, बड़ी-बड़ी खिड़कियों वाले एक बड़े स्कूल में शिक्षा प्राप्त की, वैसे स्कूल में, जिसके दूइशेन सपने देखा करता था और चर्चा किया करता था। कामगार-स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद मुझे मास्को में—इंस्टीट्यूट में पढ़ने के लिए भेज दिया गया।

पढ़ाई के लंबे सालों में मुझे कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, कितनी बार मैं निराश हो जाती, मुझे लगता जैसे विज्ञान की गहरी बातें मेरे दिमाग में बैठ नहीं पातीं। पर हर बार कठिन से कठिन घड़ियों में भी मैं अपने उस वचन के प्रति निष्ठा बनाए रही जो मैंने अपने पहले अध्यापक को दिया था और पीछे हटने का साहस नहीं कर पाई। जो बात अन्य लोगों को पहली ही बार समझ में आ जाती थी, उसे मैं बड़ी मेहनत से समझ पाती—मुझे सभी कुछ ककहरे से जो शुरू करना था।

कामगार-स्कूल में पढ़ते समय मैंने मास्टर जी को पत्र लिखा कि मैं उनसे प्रेम करती हूं और उनकी राह देखूंगी। उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया। इसी से हमारी चिट्ठी-पत्री खत्म हो गई। मैं सोचती हूं कि उन्होंने मेरे प्रेम और अपने प्रेम का बलिदान कर दिया, क्योंकि वह नहीं चाहते थे कि मेरी पढ़ाई में बाधा पड़े। संभव है उन्होंने ठीक ही किया हो...और संभव है, कुछ और कारण रहे हों ? उस समय मैं कितनी दुखी हुई थी, मैं कितनी अधिक सोचा करती थी...

अपना पहला शोध-प्रबंध मैंने मास्को में पेश किया। मेरे लिए यह एक महान और गंभीर उपलब्धि थी। इस सारी अवधि में मैं अपने गांव नहीं जा पाई थी। फिर जंग छिड़ गई। पतझड़ के अंतिम दिनों में, जब हमें सुरक्षा के लिए मास्को से निकालकर फूंजे नगर ले जाया जा रहा था, मैं उसी स्टेशन पर गाड़ी से उतर पड़ी, जिस पर मेरे मास्टर जी ने मुझे विदा किया था। मुझे फौरन ही एक राह-जाती घोड़ागाड़ी मिल गई जो हमारे गांव से होकर राजकीय फार्म की ओर जा रही थी।

मेरी प्यारी जन्म-भूमि, जंग के इन कठिन दिनों में मुझे तुम्हारे दर्शन करने का सुअवसर मिला ! यह देखकर मैं बेहद खुश हुई कि हमारी धरती का रूप ही बदल गया था : नए गांव बस गए थे, दूर-दूर तक खेत फैले थे, नई सड़कें और पुल बन गए थे, परंतु युद्ध ने इस पुनर्मिलन पर अपनी अवसादपूर्ण छाया डाल दी थी।

गांव के नजदीक पहुंचने पर मेरा दिल धक-धक करने लगा। दूर से ही मैं आंखें फाड़-फाड़कर नई, अपरिचित सड़कों, नए घरों और बागों को देखने लगी और फिर उस टीले की ओर देखते ही, जहां हमारा स्कूल था, मेरा गला रुंध गया—टीले पर एक-दूसरे के निकट पोपलार के दो बड़े-बड़े पेड़ खड़े थे। वे हवा में झूम रहे थे। पहली बार मैंने उस आदमी को, जिसे मैं जिंदगी भर "मास्टर जी" कहकर बुलाती रही थी, उसके अपने नाम से पुकारा। "दूइशेन !" मैंने फुसफुसाकर कहा, "धन्यवाद, जो कुछ तुमने मेरे लिए किया, उस सब के लिए धन्यवाद ! तुम मुझे नहीं भूले, तुम मेरे बारे में सोचते रहे...यह कितना तुम्हारे अनुरूप है..."

मेरी आंखों में आंसू देखकर गाड़ीवान लड़का हैरान-सा हुआ—

"क्या बात है ?"

"यों ही, कोई बात नहीं। क्या तुम इस सामूहिक फार्म के लोगों को जानते हो ?"

"जरूर जानता हूं। यहां सब एक-दूसरे को जानते हैं।"

"तुम दूइशेन को जानते हो जो यहां स्कूल का अध्यापक हुआ करता था ?"

"दूइशेन ? वह तो फौज में चला गया है। उसे मैं इसी गाड़ी में सामूहिक फार्म से फौजी दफ्तर ले गया था।"

गांव के पास ही मैं घोड़ागाड़ी से उतर पड़ी और उतरते ही सोचने लगी। मुसीबत के ऐसे वक्त में घर-घर जाकर अपनी जान-पहचान के लोगों को खोजने का, उनसे यह पूछने का कि क्या तुम मुझे पहचानते हो, उन्हें यह बताने का कि मैं आपके ही गांव की रहनेवाली हूं, मैं निश्चय नहीं कर पाई। दूइशेन फौज में जा चुका था। इसके अतिरिक्त मैंने प्रण कर रखा था कि मैं कभी भी उस घर में नहीं जाऊंगी, जहां मेरे चाचा-चाची रहते थे। लोगों के बहुत-से गुनाह माफ किए जा सकते हैं, पर मैं सोचती हूं कि कोई भी किसी का ऐसा गुनाह माफ नहीं कर पाएगा। मैं नहीं चाहती थी कि उन्हें इस बात का पता तक चल पाए कि मैं गांव में आई थी। मैं रास्ते से हटकर टीले पर खड़े पोपलार वृक्षों की ओर घूम गई।

हे पोपलार, पोपलार ! जब तुम छोटे-छोटे, पेड़ों के नन्हें डंठल भर थे, जब तुम्हारे तने हल्के नीले रंग के थे, तब से अब तक कितना कुछ हो चुका है ! वे सभी बातें चरितार्थ हुई हैं जिनके सपने तुम्हें रोपने और तुम्हें पाल-पोस कर बड़ा करनेवाले व्यक्ति ने देखे थे और जिनकी उसने पूर्वकल्पना की थी। तो तुम्हारी सरसराहट में इतनी उदासी क्यों है, तुम किस बात की शिकायत कर रहे हो, किसके लिए दुखी हो रहे हो, क्या तुम इस बात की शिकायत कर रहे हो कि सर्दी का मौसम सिर पर है और सर्द हवाएं तुम्हारे पत्तों को नोच डालेंगी ?... या फिर जनता का दुख-दर्द तुम्हारे तनों में गूंज रहा है ?

हां, सर्दी का मौसम आएगा, पाले वाले भयंकर बर्फानी अंधड़ चलेंगे, पर फिर वसंत का भी आगमन होगा...

मैं बड़ी देर तक वहां खड़ी वृक्षों की सांय-सांय सुनती रही। सिंचाई की नाली को जो पेड़ों के नीचे बह रही थी, किसी ने हाल ही में साफ किया था। धरती पर अभी भी फावड़े के गहरे, लगभग ताजा निशान मौजूद थे। भरी हुई नाली के झिलमिलाते जल में हल्की-हल्की लहरियां उठ रही थीं और उन पर वृक्षों के सुनहरे पत्ते इठला रहे थे।

टीले पर से गांव के नए स्कूल की रंगी हुई छत नजर आ रही थी और हमारे स्कूल का कहीं नामोनिशान तक न था...

मैं सड़क पर लौट आई और राह-जाती एक घोड़ा-गाड़ी में बैठकर स्टेशन की ओर वापस चल दी।

जंग हुई, फिर विजय की घड़ी आई। लोगों ने कटु सुख का अनुभव किया : बच्चे अपने पिताओं के फौजी थैले उठाकर स्कूलों को भाग चले, मर्दों के हाथ

फिर से श्रम करने लगे, विधवाओं ने रो-रोकर अपने भाग्य के सामने चुपचाप सिर झुका दिए। ऐसी स्त्रियां भी थीं जो अपने निकट संबंधियों का अभी भी इंतजार कर रही थीं, क्योंकि सभी एकबार ही तो घरों को नहीं लौट आए थे।

मैं भी नहीं जानती थी कि दूइशेन का क्या हुआ। शहर आनेवाले अपने गांव के लोगों से मुझे पता चला कि दूइशेन लापता है। ग्राम-सोवयित को इसी आशय का पत्र प्राप्त हुआ था।

"संभव है मारा गया हो," वे अनुमान लगाकर कहते, "वक्त बीतता जा रहा है और उसकी अच्छी-बुरी कोई खबर नहीं मिल रही।"

"तो मेरे मास्टर जी नहीं लौटेंगे," कभी-कभी सोचती। "वैसे उस चिरस्मरणीय दिन के बाद जब हम स्टेशन पर विदा हुए थे, हमें कभी मिलने का मौका नहीं मिला था..."

कभी-कभी अतीत की याद करते हुए मुझे इस बात का भ्रम तक न होता कि मेरे हृदय में इतनी अधिक वेदना संचित हो चुकी है।

सन् 1946 की पतझड़ के अंतिम दिनों में मुझे वैज्ञानिक कार्य के सिलसिले में तोम्स्क विश्वविद्यालय जाना पड़ा। मैं पहली बार साइबेरिया में से होकर जा रही थी। पतझड़ के उन दिनों में साइबेरिया बड़ा अवसादपूर्ण और अप्रिय-सा लग रहा था। खिड़कियों के बाहर सदियों पुराने, उमस भरे जंगलों की काली दीवार भागती चली जा रही थी। पेड़ों के झुरमुटों में गांवों के घरों की काली छतें झलक दे जातीं और उनकी चिमनियों में से सफेद धुएं की शिखाएं ऊपर को उठती हुई नजर आतीं। ठिठुरे हुए खेतों में बर्फ की पहली चादर बिछ चुकी थी और खेतों के ऊपर कौवे कांय-कांय करते हुए उड़ रहे थे। सारा वक्त आसमान के तेवर चढ़े रहते थे।

पर गाड़ी में मेरे लिए वातावरण सुखद था। डिब्बे में मेरा एक सहयात्री, जो मोर्चे पर से पंगु होकर लौटा था और बैसाखियों के सहारे चलता था, हमें युद्धकालीन जीवन के दिलचस्प किस्से-कहानियां सुना रहा था। किस्से गढ़ने की उसकी अक्षय कल्पना से मैं हैरान हो रही थी, उसके प्रकटतः सरल और सीधे-सादे हंसी-मजाक के पीछे सदा गहरी और विश्वसनीय सचाई का आभास मिलता। हमारे डिब्बे में सभी लोग उससे बड़ा स्नेह करते थे। नोवोसिबीर्स्क के निकट कहीं, किसी छोटे-से स्टेशन पर हमारी गाड़ी मिनट भर के लिए रुकी। मैं खिड़की के पास खड़ी बाहर देख रही थी और अपने सहयात्री के नए चुटकुले पर हंस रही थी।

गाड़ी हरकत में आई और धीरे-धीरे तेज होने लगी; खिड़की के सामने से स्टेशन का एकमात्र घर पीछे छूट गया। जब गाड़ी कांटे के पास पहुंची, तो मैं खिड़की से पीछे हट गई और फिर एक बार खिड़की के शीशे की ओर लपककर गई। हां, वही था, यह दूइशेन ही था ! वह रेलवे-केबिन के पास हाथ में झंडी लिए खड़ा था। इस एक क्षण में मुझे क्या हो गया था, मैं खुद नहीं जानती थी।

"ठहरो !" मैंने चिल्लाकर कहा, दरवाजे की ओर लपकी। मैं खुद नहीं जानती थी कि क्या करूं। किंतु इसी क्षण खतरे की जंजीर देखकर मैंने उसे जोर से खींच दिया।

गाड़ी के डिब्बों को जोर का धक्का लगा, जबरदस्त झटके से गाड़ी को ब्रेक लगा और उसी जोर से उसने पीछे की ओर झटका खाया। तख्तों पर से चीजें नीचे आ गिरीं, प्लेटें फर्श पर लुढ़कने लगीं, औरतें और बच्चे चिल्लाने लगे। कोई व्यक्ति भयानक आवाज में चिल्लाया—

"कोई आदमी गाड़ी के नीचे आ गया है !"

पर मैं दरवाजे तक पहुंच चुकी थी। पांवों के नीचे की जमीन की ओर देखे बिना मैं जैसे कि गहरे गढ़े में कूद पड़ी, और कुछ भी देखे-समझे बिना बेतहाशा कांटे वाले केबिन की ओर, दूइशेन की ओर, भागने लगी। पीछे से कंडक्टरों की सीटियां और लोगों की आवाजें, उनके भागते, पटपटाते कदमों की आवाजें सुनाई दे रही थीं।

मैं दम साधे हुए तीर की तरह गाड़ी के साथ-साथ भागती गई। और दूइशेन मुझसे मिलने के लिए भागकर आगे आ गया।

"मास्टर जी ! दूइशेन !" मैंने चिल्लाकर कहा, और उसकी ओर बढ़ चली।

कांटे वाला खड़ा हो गया और किंकर्तव्यविमूढ़-सा मेरी ओर देखने लगा। दूइशेन ही था वह। हू-बहू वही था, वही कद-बुत, वही आंखें, वही चेहरा, बिल्कुल वही था। केवल पहले उसकी मूंछें नहीं थीं और वह कुछ-कुछ बूढ़ा हो गया लगता था।

"क्या है, बहन, क्या बात है ?" उसने कजाख भाषा में कहा, "तुमसे शायद भूल हुई है, मेरा नाम जंगाजिन है, बैनेऊ जंगाजिन। कांटे वाला।"

"बैनेऊ ?"

मैं नहीं जानती किस भांति मैं उस क्षण दुख, दर्द, लज्जा और तिरस्कार के कारण चीखी नहीं। यह मैंने क्या किया ? मैंने दोनों हाथों से मुंह ढांप लिया : मेरा सिर झुक गया। मेरे पांवों के नीचे धरती फट क्यों नहीं गई ? मुझे कांटे वाले से, लोगों से माफी मांगनी चाहिए थी, पर मैं बुत बनी हुई वहां चुपचाप खड़ी थी। भागकर आए मुसाफिरों की भीड़ भी न जाने क्यों, चुप थी। मुझे

उम्मीद थी कि लोग मुझ पर बरस पड़ेंगे, मुझे भला-बुरा कहेंगे। परंतु सब लोग चुप रहे। उस भयानक निस्तब्धता में कोई औरत सिसकियां भरने लगी और धीरे-से बोली—

"बदनसीब, पति या भाई समझकर यहां भागी आई, लेकिन कोई और निकल आया।"

लोग हिलने-डुलने लगे।

"देखिए क्या हो गया," किसी ने गहरी आवाज में कहा।

"जीवन में क्या नहीं हो सकता। जंग के दिनों में हम पर क्या नहीं बीती..." जवाब में किसी औरत की भर्राई हुई आवाज सुनाई दी।

कांटे वाला चेहरे पर से मेरे हाथों को हटाते हुए बोला—

"चलिए, मैं आपको डिब्बे में पहुंचा दूं। बहुत सर्दी है।"

उसने मुझे अपने बाजू का सहारा दिया। दूसरी ओर से किसी अफसर ने मुझे अपने बाजू का सहारा दिया।

"आइए, चलिए, हम सब कुछ समझते हैं," उसने कहा।

लोग आगे से हट गए और मातमी जुलूस की तरह मुझे ले जाने लगे। हम धीरे-धीरे आगे-आगे चल रहे थे और हमारे पीछे बाकी सभी लोग थे। अन्य मुसाफिर भी चुपचाप आकर भीड़ में शामिल हो जाते। किसी ने मेरे कंधों पर मुलायम शाल डाल दी। मेरा सहयात्री हमारी बगल में चलता आ रहा था। वह बैसाखियां पटपटाता आगे जाता और मेरे चेहरे की ओर देखता। हंसोड़ मसखरा, नेकदिल और साहसी इनसान। न जाने क्यों, उसने सिर पर से टोपी उतार ली थी और रोता-सा जान पड़ता था। मैं भी रोए जा रही थी। गाड़ी के साथ-साथ धीरे-धीरे, लयबद्ध गति से चलते हुए इस जुलूस की शक्ल में, टेलीग्राफ के तारों में बजती हुई हवा की सीटियों और भनभनाहट में मुझे मातमी धुन सुनाई दे रही थी। "नहीं, अब मैं उसे कभी नहीं देख पाऊंगी।"

हमारे डिब्बे के पास गार्ड खड़ा था। उसने चिल्लाकर, उंगली हिला-हिलाकर अदालती जवाबदेही के बारे में, जुर्माने के बारे में कुछ कहा। पर मैंने कोई जवाब नहीं दिया। मेरे लिए सब बराबर था। उसने रिपोर्ट मेरे सामने कर दी ताकि मैं उस पर दस्तखत करूं, लेकिन मुझमें पेंसिल तक पकड़ने की ताकत नहीं थी।

तब मेरे सहयात्री ने उससे कागज छीन लिया और बैसाखियों के सहारे आगे बढ़कर, सीधे सबके सामने चिल्लाकर कहा—

"इसे परेशान मत करो ! मैं दस्तखत करूंगा, मैंने जंजीर खींची थी, मैं इसकी जवाबदेही करूंगा !"

साइबेरिया की धरती पर, रूस के प्राचीन क्षेत्र में, कुछ लेट हो चुकी गाड़ी तेज गति से आगे बढ़ रही थी। रात के सन्नाटे में मेरे सहयात्री की अवसादपूर्ण धुनें गिटार पर सुनाई दे रही थीं। रूसी विधवाओं के निराशापूर्ण गीत की भांति मैं खत्म हो चुकी बर्बर जंग की शोकाकुल प्रतिध्वनि अपने सुलगते दिल में लिए जा रही थी।

वर्ष बीतते गए। अतीत पीछे छूट गया, भविष्य अपनी रोजमर्रा की छोटी-बड़ी चिंताओं के साथ निरंतर पुकारने लगा। मैंने देर से शादी की। परंतु मुझे एक नेक आदमी मिल गया। हमारे बच्चे हैं, हम बड़े प्यार से रहते हैं। इस समय मैं दर्शनशास्त्र की डाक्टर हूं, इधर-उधर आना-जाना पड़ता है, अक्सर देश-विदेश में जाती रहती हूं...लेकिन अपने गांव में दूसरी बार नहीं गई। कारण बहुत-से थे, मगर मैं अपनी सफाई देना नहीं चाहती। अपने हमवतनों से मैंने संपर्क तोड़ दिया, यह बुरी बात है, अक्षम्य है। लेकिन ऐसा था मेरा भाग्य। मैं अतीत को नहीं भूली, उसे मैं भूल नहीं सकती थी, मैं केवल उससे दूर होती गई थी।

पहाड़ों में ऐसे झरने भी होते हैं जिन तक जानेवाली पहली पगडंडी को लोग भूल जाते हैं। मुसाफिर कभी-कभार ही अपनी प्यास बुझाने के लिए उनकी ओर जाते हैं और धीरे-धीरे झाड़-झंखाड़ उन्हें ढक देते हैं। और बाद में वे बिल्कुल ही अदृश्य हो जाते हैं। विरला ही कोई इस झरने को याद करता है, विरला ही कड़ी धूप और गर्मी के दिन में कोई बड़े रास्ते से हटकर वहां अपनी प्यास बुझाने के लिए जाता है। शायद कोई आदमी आएगा, इस जगह को ढूंढ लेगा, जहां अब झाड़-झंखाड़ उग रहे हैं, गहरी झाड़ियों को हटाकर धीमी आवाज में आह भरेगा—शीतल जल की विलक्षण, नीलवर्ण स्वच्छता, जिसे मुद्दत से किसी ने गंदला नहीं किया, अपनी स्थिरता और गहराई से उसे हैरान कर देगी। और वह व्यक्ति इस झरने में अपनी, सूर्य की, आकाश और पहाड़ों की छवि को देखेगा...और सोचेगा कि ऐसे स्थानों को न जानना पाप है, इस बात की जरूरत है कि अपने साथियों को उस बारे में बताया जाए। वह इस तरह सोचता है और अगली बार तक के लिए इस बात को भूल जाता है।

जीवन में कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है। जीवन तो आखिर जीवन है...

ऐसे झरनों की मुझे हाल ही में गांव जाने के बाद याद आई।

आप शायद हैरान हुए होंगे कि उस बार मैं अचानक ही और इतनी जल्दी कुरकुरेव से क्यों चली आई। क्या वहां पर लोगों से इस सारी बात की चर्चा

नहीं की जा सकती थी ? नहीं। मैं इतनी अधिक उद्विग्न थी, मुझे इतनी अधिक शर्म आ रही थी, मैं अपने पर ही इतनी लज्जित थी कि दूइशेन से आंख नहीं मिला सकती थी, उसकी ओर देख नहीं सकती थी। इसीलिए मैंने उसी समय वहां से चले जाने का निश्चय किया, ताकि अपने मन को शांत करूं, अपने विचारों को ठिकाने पर लाऊं, उन सभी बातों के बारे में क्रमबद्ध रूप से सोचूं जिन्हें मैं न केवल अपने गांववालों को बल्कि बहुत-से अन्य लोगों को भी बताना चाहती हूं।

मैं एक और कारण से भी अपने को अपराधी महसूस करती थी। वह कारण यह था कि नए स्कूल के उद्घाटन के समय मेरे प्रति किसी प्रकार का सम्मान प्रदर्शित नहीं किया जाना चाहिए था, सम्मान के पद पर मुझे बैठाने की जरूरत नहीं थी। इसका अधिकारी था हमारा पहला अध्यापक, हमारे गांव का पहला कम्युनिस्ट—बूढ़ा दूइशेन। और हुआ इसके बिल्कुल विपरीत। हम समारोह मना रहे थे, खुशियां मना रहे थे, जबकि यह शानदार आदमी डाक लिए और घोड़े पर सवारी करता हुआ स्कूल के उद्घाटन संबंधी पुराने छात्रों के मुबारकबादी तार बांटता फिर रहा था।

इस ढंग की यह एकमात्र घटना नहीं है। मैंने कई बार ऐसी अन्य घटनाएं भी देखी हैं। इसीलिए मैं अपने आप से यह पूछती हूं : कब से हमने सीधे-सादे इनसान का आदर करने की, क्षमता खो दी है, उस तरह आदर करने की जिस तरह लेनिन करते थे ? शुक्र है कि अब हम किसी तरह के ढोंग और लाग-लपेट के बिना ऐसी बातों की चर्चा करते हैं। यह बड़ी अच्छी बात है कि इस मामले में भी हम लेनिन के और निकट आ गए हैं।

नौजवान लोग नहीं जानते कि अपने जमाने में दूइशेन किस ढंग का अध्यापक था। और पुरानी पीढ़ी के लोगों में से अब बहुत-से नहीं रहे, दूइशेन के छात्रों में से बहुत-से युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गए। वे सच्चे सोवियत योद्धा थे। नौजवानों को अपने अध्यापक का परिचय देना मेरा कर्तव्य था। किसी दूसरे को भी ऐसा ही करना चाहिए था। परंतु मैं गांव नहीं जा पाई, मैं दूइशेन के बारे में कुछ नहीं जानती थी और वक्त के साथ उसका व्यक्तित्व मेरे लिए मानो अतीत के एक ऐसे प्रिय अवशेष में बदल गया था जो संग्रहालय की निस्तब्धता में सुरक्षित रहता है।

मैं जरूर अपने मास्टर जी के पास जाऊंगी, अपना कसूर मानूंगी, उनसे क्षमा मांगूंगी।

मास्को से लौटते समय मैं कुरकुरेव जाना चाहती हूं और वहां लोगों के

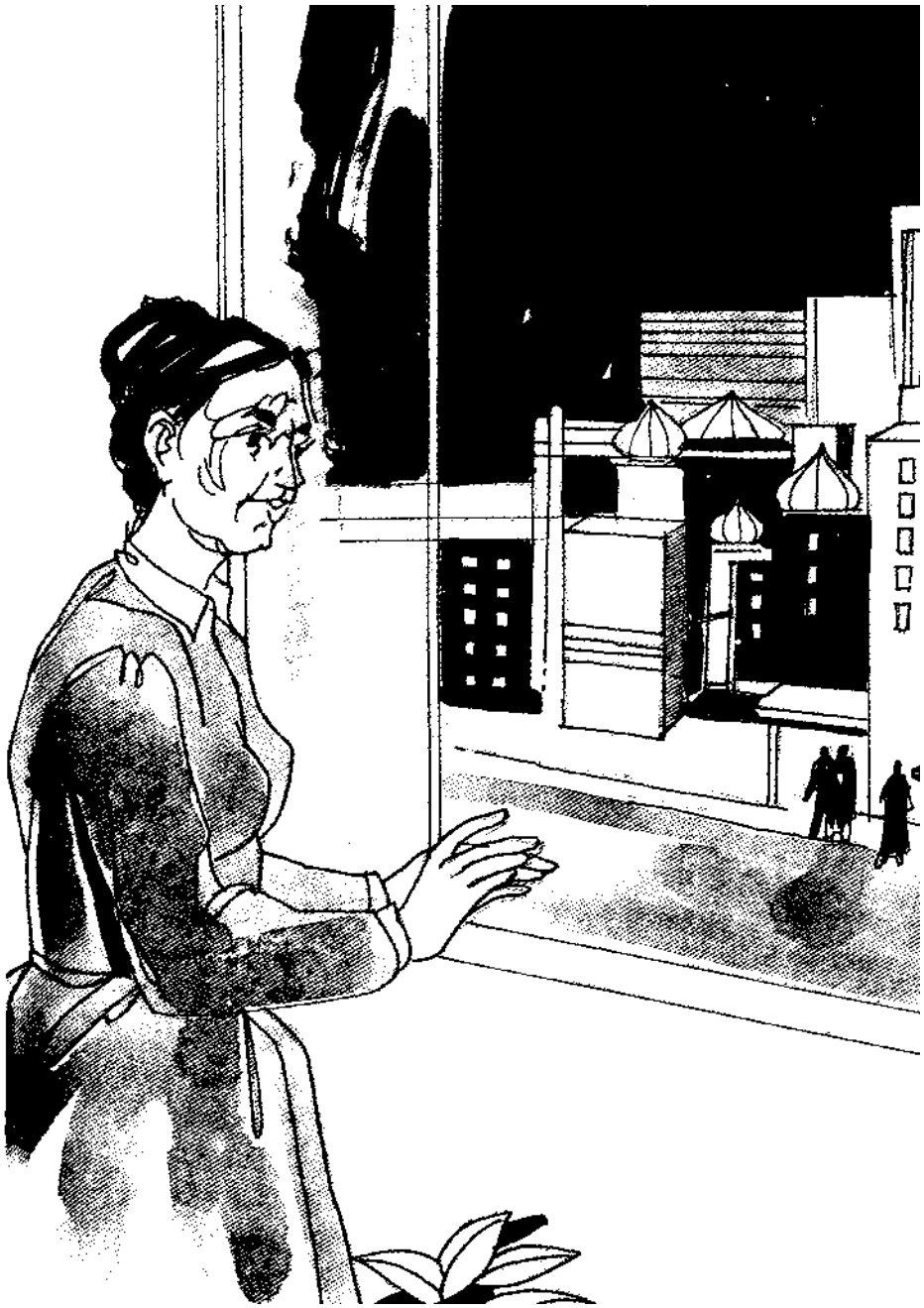

सामने यह सुझाव रखना चाहती हूं कि वे नए छात्रावास स्कूल का नाम उस सीधे-सादे सामूहिक किसान के नाम पर, जो इस समय डाकिए का काम कर रहा है, ''दूइशेन स्कूल'' रखें। मुझे आशा है कि आप, हमवतन होने के नाते, मेरे सुझाव का समर्थन करेंगे। मेरा अनुरोध है कि आप इसका समर्थन करें।

मास्को में इस समय रात के दो बज रहे हैं। मैं होटल के छज्जे में खड़ी हूं, मास्को की रोशनियों के विस्तृत प्रसार को देख रही हूं और सोचती हूं कि मैं किस भांति गांव जाऊंगी, मास्टर जी से कैसे मिलूंगी, किस भांति उनकी सफेद दाढ़ी को चूमूंगी।

मैं खिड़की खोल देता हूं। झरने के स्वच्छ जल-प्रवाह की भांति हवा कमरे में आने लगती है। धीरे-धीरे छनते हुए नीले धुंधलके में मैं अपने उस चित्र के खाकों को बड़े ध्यान से देखने लगता हूं, जिसे मैंने शुरू कर रखा है। ये खाके बहुत-से हैं, क्योंकि मैं कितनी ही बार इसको नए सिरे से शुरू कर चुका हूं। परंतु पूर्ण चित्र के बारे में अंतिम निर्णय कर पाने का वक्त अभी तक नहीं आया। मुझे अभी तक वह प्रमुख, चिरवांछित तत्व नहीं मिला...पौ फटने से पहले की निस्तब्धता में मैं चहलकदमी करता और अपने चित्र के बारे में सोचता रहता हूं। हर बार ऐसा ही होता है। और हर बार मुझे इस बात का यकीन हो जाता है कि मेरा चित्र अभी तक मेरी कल्पना में ही बसा हुआ है।

फिर भी मैं अपने उस चित्र की चर्चा करना चाहता हूं, जो अभी तक बनाया नहीं गया। आपसे सलाह लेना चाहता हूं। निश्चय ही, आपने अनुमान लगा लिया होगा कि मेरे चित्र का संबंध हमारे गांव के प्रथम अध्यापक, पहले कम्युनिस्ट—बूढ़े दूइशेन से है।

परंतु संघर्षों, भाग्यों की विविधताओं और मानवीय आवेगों से परिपूर्ण इस जटिल जिंदगी को क्या मैं रंगों में ढाल भी सकता हूं ? कैसे किया जाए कि भावनाओं का यह जाम छलके नहीं और आप तक, मेरे समकालीनों तक पहुंच जाए ? कैसे किया जाए कि मेरा चिंतन, मेरे दिल का दर्द अभिन्न रूप से आपके दिल का दर्द बन जाए ?

मैं इस चित्र को बनाए बिना नहीं रह सकता, परंतु कितना चिंतन, कितनी व्याकुलता हृदय को उद्वेलित किए हुए है ! कभी-कभी मुझे लगता है, जैसे मेरे हाथ से कभी भी कुछ नहीं बन पाएगा। तब मैं सोचता हूं कि किस्मत ने क्यों मेरे हाथ में तूलिका रख दी। यह भी कैसी व्यथा है। कभी-कभी मैं पहाड़ों को उलट देने के लिए अपने को तत्पर पाता हूं। तब मैं सोचता हूं—जीवन को देखो, चुनो, सीखो। दूइशेन और आल्तीनाई के पोपलार वृक्षों के बारे में चित्र बनाओ, उन्हीं पोपलार वृक्षों के बारे में जिन्होंने बचपन में तुम्हें आह्लाद की इतनी घड़ियां प्रदान की थीं, हालांकि तुम उस वक्त इनकी कहानी नहीं जानते थे। उस लड़के का चित्र बनाओ जो नंगे पांव, धूप में संवलाया हुआ, पोपलार की शाखाओं पर खूब ऊंचे बैठा है और मंत्र-मुग्ध नेत्रों से स्तेपी की रहस्यपूर्ण, अलौकिक दूरियों को देखे जा रहा है।

या एक ऐसा चित्र बनाओ, जिसका शीर्षक हो—'पहला अध्यापक'। उस घड़ी को आंको, जब दूइशेन बच्चों को उठा-उठाकर उन्हें नाले के पार स्कूल ले जाता है और लाल लोमड़ी की खाल की टोपियां पहने, मोटे-ताजे, जंगली घोड़ों पर सवार मूर्ख लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हुए पास से गुजरते हैं...

या फिर उस दृश्य का चित्र खींचो, जब आल्तीनाई शहर जा रही है और दूइशेन उसे छोड़ने स्टेशन पर आया है। तुम्हें याद है न कि आखिरी बार दूइशेन किस भांति चिल्लाया था ! ऐसा चित्र बनाओ जो दूइशेन की चीख की भांति दिल की गहराइयों में हलचल पैदा कर दे और उसी तरह देर तक गूंजती रहे।

इस भांति मैं मन ही मन बातें करता रहता हूं। मैं बहुत-सी बातें अपने आप से कहता हूं, पर हमेशा वे असली शक्ल ले पाती हों, ऐसा नहीं है...अब भी मैं नहीं जानता कि कौन-सा चित्र बनाऊंगा। परंतु मैं एक बात पक्की तरह जानता हूं—मैं अपनी राह ढूंढूंगा...

●●●